दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह

मूल लेखक
महात्मा गांधी

अनुवादक
वैजनाथ जगन्नाथ मोयदे

प्रकाशक
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक-मंडल,
अजमेर

मूल्य
स्थायी ग्राहकों से ।≈)
सर्व–साधारण से ।।।)

नवजीवन मुद्रणालय
मुद्रक—वेणीलाल छगनलाल बूच
सारंगपुर, सरकीगरा की वाडी—अहमदाबाद

प्रथम संस्करण] [२००० प्रति

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल
अजमेर

हिन्दी-संसार में उच्च और शुद्ध साहित्य के प्रचार के उद्देश से इस मण्डल का जन्म हुआ है। विविध विषयों पर सर्वसाधारण और शिक्षित-समुदाय, स्त्री और बालक सबके लिए उपयोगी, अच्छी और सस्ती पुस्तकें इस मण्डल के द्वारा प्रकाशित होंगी। मूल्य लगभग

लागत-मात्र

रहेगा। सालभर में कमसे कम १६०० पृष्ठ की पुस्तकें दी जायंगी

१) में ५०० से ६०० पृष्ठ तक

की पुस्तकें देने का विचार है। यह मूल्य स्थायीं ग्राहकों के लिए होगा। प्रत्येक पुस्तक वी. पी. से भेजने में खर्चा बहुत पड जाता है। इसलिए यह तजबीज की है कि स्थायी ग्राहकों से एक साल के लिए फ़िलहाल ३॥) पेशगी लिया जाय—३॥) १६०० पृष्ठ की पुस्तकों का और १) डाकखर्च। **स्थायी गाहक बनने के लिए कोई प्रवेश फी नहीं ली जाती।**

व्यवस्था-समिति

इस मण्डल के सदुद्देश, महत्त्व और भविष्य का अन्दाज पाठकों को होने के लिए हम सिर्फ उसकी व्यवस्था-समिति के सदस्यों के ही नाम यहां दे देते हैं—

१. सेठ जमनालाल जी बजाज, वर्धा
२. सेठ घनश्यामदास जी बिडला, कलकत्ता
३. स्वामी आनन्दानन्द जी (महात्मा गांधी की नवजीवन-संस्था के संचालक)
४. बाबू महावीरप्रसाद जी पोद्दार, गोरखपुर
५. डाक्टर अंबालाल जी दाधीच, अजमेर
६. पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय, अहमदाबाद
७. श्री जीतमल लूणिया, अजमेर

कृपया शीघ्र ही स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाइए—और मण्डल के जन्म को सफल बनाने में हमारा हाथ बंटाइए ।

मण्डल के अधीन एक

पुस्तक-भण्डार

भी रक्खा गया है । उसमें केवल उपयोगी और उपादेय पुस्तकें ही रक्खी गई हैं । गंदे और चरित्रनाशक उपन्यास आदि ऐसी ही पुस्तकों के लिए फरमाइश करने का कष्ट न करें ।

व्यवस्थापक

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल—अजमेर

हमारी 'सस्ती-साहित्य-माला' की

दूसरी पुस्तक

अछूतोद्धार

(लेखकः महात्मा गांधी)

तैयार हो रही है।

‘दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह’ की

लागतका ब्योरा—

छपाई	४७४
कागज	४९४-१२
जिल्द बंधाई	११४
अनुवादक का पारिश्रमिक	११९
फुटकर	४८—४
जोड	१२५०—०

प्रतियां ३०००

एक प्रति का मूल्य ।≈)

व्यवस्थापक
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक-मण्डल,
अजमेर

मंगलाचरण

'सस्ती-साहित्य-माला' के लिए यह मंगल की बात है कि महात्माजी की लिखी पुस्तक के द्वारा उसका मंगलाचरण हो रहा है। 'नवजीवन' संस्था, अहमदाबाद इसे प्रकाशित करना चाहती थी। हम उसके कृतज्ञ हैं कि उसने हमें प्रायः छपी-छपाई पुस्तक इस माला के लिए दे दी।

माला की अगली पुस्तकें तैयार हो रही हैं। हम यथासंभव शीघ्र ही अन्य पुस्तकों के नाम आदि प्रकाशित करेंगे।

प्रकाशक

अध्याय-सूची

दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह

प्रास्ताविक

दक्षिण आफ्रिका में हिन्दुस्तानियों का सत्याग्रह-संग्राम ८ साल तक चला। उसी संग्राम में 'सत्याग्रह' शब्द का आविष्कार हुआ और प्रयोग किया गया। बहुत समय से मैं यह बात सोच रहा था कि इस संग्राम का इतिहास लिखूं। उसका कितना ही अंश केवल मैं ही लिख सकता हूं। कौन सी बात किस हेतु से की गई, यह तो युद्ध का संचालक ही जान सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में बडे पैमाने पर पहली ही बार यह प्रयोग किया गया था। इसलिए उस सत्याग्रह के सिद्धान्त के विकास का ज्ञान लोगों को होना हर हालत में आवश्यक है।

परन्तु इस बार तो हिन्दुस्तान सत्याग्रह का विशाल क्षेत्र बना है। विरमगाम वाली चुंगी की एक छोटीसी लडाई के द्वारा उसका अनिवार्य क्रम शुरू हुआ है।

विरमगाम*वाले चुंगी के संग्राम का निमित्त कारण वढवाण* का परोपकारी दरजी मोतीलाल था। मैं विलायत से लौट कर

---

*विरमगाम अहमदाबाद से ४० मील पश्चिम और वढवाण विरमगाम से चालीस मील पश्चिम है।

१९१५ में काठियावाड जा रहा था । तीसरे दरजे में बैठा था । वढवाण स्टेशन पर यह दरजी एक छोटीसी जमात लेकर आया था । उसने विरमगाम की कुछ बातें सुना कर मुझसे कहा कि इस मुसीबत का कुछ इलाज कीजिए । काठियावाड में आपने जन्म लिया है उसे सफल कीजिए । उसकी आंखों में दृढता और करुणा दोनों थीं । मैंने पूछा—'आप जेल जाने को तैयार हैं ?' तुरन्त उत्तर मिला—'हम तो फांसी चढने को तैयार हैं !' मैंने कहा—'मुझे जेल ही काफी है । पर देखना, विश्वासघात न हो' मोतीलाल ने कहा—'यह तो अनुभव से मालूम हो जायगा !' मैं राजकोट पहुंचा । अधिक व्योरा जाना । सरकार के साथ लिखा—पढी शुरू की । बगसरा† आदि के व्याख्यानों में कहा कि यदि चुंगी के लिए जरूरत पडे तो सत्याग्रह करने के लिए तैयार रहना । यह व्याख्यान सरकार की खुफिया पुलिस ने सरकार के दफ्तर में पहुचाया । पहुंचानेवाले ने सरकार की सेवा के साथ ही साथ, अनजान में, देश की भी सेवा की । अन्त को लार्ड चेम्सफर्ड के साथ उसके विषय में बातचीत हुई और उन्होंने अपने वचन का पालन किया । हां, मैं जानता हूं कि औरों को भी इसके लिए प्रयास करना पडा है । परन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि सत्याग्रह होने की संभावना ही चुंगी के रद होने का कारण है ।

इसके बाद गिरमिटिया कानून की बारी आई । इस कानून को रद कराने के लिए बहुत प्रयत्न किये गये थे । उसके लिए आम तौर पर आन्दोलन भी खूब किया गया था । बम्बई में सभा हुई और उसमें गिरमिट बन्द करने की तारीख ३१ जुलाई, १९१७ तय की गई थी । वह तारीख क्यों मुकर्रर हुई, इसका इतिहास

---

† काठियावाड का एक मुकाम

यहां नहीं दिया जा सकता। उस आन्दोलन के सिलसिले में वाइसराय के पास पहले बहनों का एक शिष्ट-मंडल गया। उसमें प्रयत्न किसका था, इसका उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता। चिरस्मरणीय बहन जायजी पेटिट की यह कोशिश थी। इस लड़ाई में भी केवल सत्याग्रह की तैयारी से विजय प्राप्त हुई। परन्तु यह फर्क याद रखने लायक है कि उसके संबंध में लोगों की ओर से हलचल करने की जरूरत थी। गिरमिट-प्रथा की बन्दी विरमगाम की चुंगी से अधिक महत्वपूर्ण है। रौलट एक्ट के बाद लार्ड चेम्सफर्ड ने भूलें करने में कसर नहीं की। तो भी मेरा अभीतक यह ख्याल है कि वे एक समझदार वाइसराय थे। सिविल सर्विस के स्थायी हाकिमों के पंजे से अन्त तक कौन वाइसराय बच सकता है?

तीसरी लड़ाई चंपारन की। उसका सविस्तर इतिहास राजेन्द्र बाबू ने लिखा है। इसमें सत्याग्रह करना पड़ा था। केवल तैयारी काफी नहीं थी। परन्तु प्रतिपक्षियों का स्वार्थ उसमें कितना था! चंपारन में लोगों ने जो शान्ति कायम रक्खी, वह बात उल्लेख योग्य है। तमाम नेताओं ने तन, मन और वचन से पूर्ण शान्ति का पालन किया था। मैं खुद इसका साक्षी हूं। इसीसे वह सदियों की बुराई छः महीने में दूर हो गई।

चौथी लड़ाई अहमदाबाद के मिल-मजदूरों की। उसका इतिहास तो गुजरात को अच्छी तरह मालूम है। मजदूरों ने कैसी शान्ति रक्खी थी! और नेताओं की शान्ति के विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। इस विजय को मैं सदोष मानता हूं। क्योंकि मजदूरों की टेक रखने के लिए मैंने जो उपवास किया था उससे मिल-मालिकों पर दबाव पड़ा था। मेरे और उनके

बीच जो स्नेह भाव था उससे उनपर मेरे उपवास का असर पड़े बिना नहीं रह सकता था। यह होते हुए भी लड़ाई का सार तो स्पष्ट है। मजदूर यदि शान्ति पर दृढ़ रहें तो उनकी जीत हुए बिना नहीं रह सकती और वे मालिकों का मन हरण कर सकें। पर वे मालिकों का मन हरण न कर सके, क्योंकि मजदूर लोग मन, वचन और काया से निर्दोष—शान्त नहीं कहे जा सकते। वे काया के द्वारा ही शान्त रहे, यह भी बहुत है।

पांचवीं लड़ाई खेड़ा में हुई। मैं नहीं कह सकता कि इसमें तमाम नेताओं ने पूरी तरह सत्य की रक्षा की। हां, शान्ति की रक्षा अवश्य हुई। प्रजा जनों की शान्ति, मजदूरों की तरह, केवल कायिक ही थी। इससे अकेले मान की रक्षा हुई। लोगों में बड़ी जागृति फैली। परन्तु खेड़ा ने शान्ति का पूरा पाठ नहीं पढ़ा था। मजदूर शान्ति का शुद्ध स्वरूप नहीं समझ पाये थे। इससे रौलट एक्ट के सत्याग्रह के समय लोगों को कष्ट-सहन करना पड़ा। मुझे अपनी हिमालय के बराबर भूल कुबूल करना पड़ी और उपवास करने और कराने पड़े।

छठी लड़ाई रौलट कानूनवाली। उसमें वे बुराइयां जो हमारे अन्दर थीं बाहर उभड़ उठीं। पर बुनियाद पक्की थी। अपने तमाम दोष हमने स्वीकार किये और प्रायश्चित्त किया। रौलट कानून का व्यवहार कभी न हो पाया और अन्त को वह काला कानून रद भी हो गया। इस संग्राम ने हमें भारी पाठ पढ़ाया।

सातवां खिलाफत, पंजाब और स्वराज्य का युद्ध। वह अभी चल रहा है। उसमें यदि एक भी सत्याग्रही साबित कदम रहे तो विजय निश्चित है। मेरा यह विश्वास ज्यों का त्यों अटल है।

परन्तु वर्तमान युद्ध महाभारत है। उसकी तैयारी अनिच्छा पूर्वक किस प्रकार हुई इसका क्रम मैं ऊपर दे चुका हूं। विरमगाम की चुंगी के समय मुझे क्या पता था कि दूसरी लड़ाइयां लड़नी पड़ेंगी? दक्षिण आफ्रिका में भी मुझे विरमगाम की क्या खबर थी? सत्याग्रह की यही खूबी है। वह खुद हमारे पास चला आता है। उसे हमें खोजने नहीं जाना पड़ता। यह गुण उसके सिद्धान्त में ही समाया हुआ है। जिसमें कोई बात छिपाई नहीं जाती, किसी तरह की चालाकी नहीं रहती और जिसमें असत्य की तो गुंजायश ही नहीं, ऐसा धर्म युद्ध अनायास ही आता है और धर्मनिष्ट मनुष्य उसके स्वागत के लिए हमेशा तैयार रहता है। पहले से जिसकी रचना करनी पड़े वह धर्म-युद्ध नहीं। उसकी रचना करनेवाला और संचालन करने वाला तो ईश्वर है। वह युद्ध ईश्वर के ही नाम पर चल सकता है और जब सत्याग्रही की बुनियाद ढहने लगती है, वह बिलकुल निर्बल हो जाता है, चारों ओर अन्धकार छा जाता है, तभी ईश्वर उसकी सहायता करता है। मनुष्य जब अपनेको एक रजःकण से भी क्षुद्र मानता है, तब ईश्वर उसकी मदद करता है। निर्बल को ही राम बल देता है।

इस सत्य का अनुभव हमें अभी होना बाकी है। इससे मेरा खयाल है कि दक्षिण आफ्रिका का इतिहास हमें सहायक हो सकता है।

इस वर्तमान संग्राम में हमको अबतक जो जो अनुभव हुए हैं वही अनुभव, पाठक देखेंगे कि, दक्षिण आफ्रिका में हुए थे। दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास हमें यह भी बतावेगा कि अबतक हमें इस युद्ध में निराश होने का एक भी कारण नहीं है। विजय

के लिए हमें सिर्फ इसी बात की जरूरत है कि हम अपनी योजना पर दृढता के साथ अटल रहें।

इस प्रस्तावना को मैं जुहू में बैठा हुआ लिख रहा हूं। इतिहास के ३० अध्याय यरोडा-जेल में लिखे थे। मैं बोलता गया और श्री. इन्दुलाल याज्ञिक लिखते गये। शेष अब फिर लिखना शुरू करता हूं। जेल में मेरे पास आधार के लिए पुस्तकें नहीं थीं। यहां भी मैं उन्हें मंगाना नहीं चाहता। सविस्तर इतिहास लिखने की न तो मुझे फुरसत है, न उत्साह, न इच्छा। यह केवल इसी उद्देश से लिख रहा हूं कि वर्तमान युद्ध में वह सहायक हो और यदि किसी फुरसतवाले साहित्य-विलासी के हाथों किसी दिन सविस्तर इतिहास लिखा जाय तो उनके कार्य में मेरा यह प्रयत्न पतवार-रूप हो सके। यद्यपि यह बिना आधार के लिखा गया है तथापि इससे किसीको यह न समझना चाहिए कि इसकी कोई बात ठीक नहीं है अथवा किसी जगह अतिशयोक्ति हुई है।

जुहू, बुधवार,
फाल्गुन बदी १३, संवत् १९८०,
२ अप्रेल, १९२४ ई.

मोहनदास करमचंद गांधी

अध्याय १

भूगोल

आफ्रिका दुनिया का एक बडे से बडा भू-खण्ड है। हिन्दुस्तान भी एक भू-खण्ड के बराबर देश माना जाता है; पर केवल रकबे के लिहाज से आफ्रिका में चार-पांच हिन्दुस्तान का समावेश हो सकता है। आफ्रिका के बिल्कुल दक्षिणी हिस्से को दक्षिण आफ्रिका कहते हैं। हिन्दुस्तान की तरह आफ्रिका भी प्रायद्वीप है। अर्थात् दक्षिण-आफ्रिका का एक बडा भाग समुद्र से घिरा हुआ है। आफ्रिका के संबंध में आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि वहां सबसे ज्यादह गरमी पडती है। और एक तरह से यह बात सच भी है। भू-मध्य-रेखा आफ्रिका के बीच से गुजरती है। इस रेखा के आसपास की गरमी का खयाल हिन्दुस्तान के रहनेवालों को नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान के ठेठ दक्षिण में जिस गरमी का अनुभव हम करते हैं उससे भू-मध्य-रेखा की गरमी का थोडा बहुत अन्दाज लग सकता है। परन्तु दक्षिण-आफ्रिका में वह गरमी नहीं। क्योंकि यह भाग भू-मध्य-रेखा से बहुत दूर है। वहां के कितने ही भागों की आब-हवा तो इतनी बढिया है और ऐसी सम-शीतोष्ण है कि वहां योरपीय

जातियां खुशी से घर बनाकर रह सकती हैं। हिन्दुस्तान में यह उनके लिए प्रायः असंभव है। फिर दक्षिण-आफ्रिका में तिब्बत अथवा काश्मीर की तरह बड़े ऊंचे प्रदेश हैं। वे तिब्बत अथवा काश्मीर की तरह दस से चौदह हजार फीट ऊंचे नहीं। इससे वहां की हवा सूखी और बरदाश्त होने लायक ठण्डी होती है। और इसीसे दक्षिण-आफ्रिका का कितना ही प्रदेश क्षय के रोगियों के लिए अत्युत्तम माना जाता है। ऐसा एक हिस्सा है जोहानीस्बर्ग— दक्षिण आफ्रिका की सुवर्णपुरी। जिस जमीन के टुकड़े पर जोहानीस्बर्ग बसा हुआ है वह आज से ५० साल पहले बिल्कुल वीरान था—सूखी घास खड़ी रहती थी। पर जब वहां सोने की खानों का आविष्कार हुआ तब वहां जादू के मुआफिक देखते देखते घर बनने लगे और आज तो वहां विशाल सुशोभित बंगले बने हुए हैं। वहां के धनी लोगों ने, अपने खर्चे से, दक्षिण आफ्रिका के उपजाऊ मुकामों से तथा योरप से भी, एक एक पौधे के पन्द्रह पन्द्रह रुपये देकर वहां लगाये हैं। इस पूर्व इतिहास के न जाननेवाले यात्रियों को आज ऐसा दिखाई देगा मानों ये पेड़ यहां एक जमाने से लगे हुए हैं।

दक्षिण आफ्रिका के तमाम विभागों का वर्णन मैं यहां नहीं करना चाहता। मैं तो सिर्फ उन्हीं विभागों का वर्णन करूंगा जो हमारे विषय से कुछ संबंध रखते हैं। दक्षिण आफ्रिका में दो हुकूमतें हैं—(१) अंगरेजी और (२) पोर्टुगीज। पोर्टुगीज भाग को डेलागोआ बे कहते हैं और हिन्दुस्तान से जाते समय दक्षिण आफ्रिका का पहला बन्दर है। वहां से नीचे आने पर नेटाल, पहली ब्रिटिश रियासत, आती है। उसके बन्दर को पोर्ट नेटाल कहते हैं। पर हम उसे डर्बन के नाम से पहचानते हैं। दक्षिण आफ्रिका में भी वह आम तौर पर इसी नाम से प्रसिद्ध है। नेटाल का यह सब

से बडा शहर है । नेटाल की राजधानी का नाम है पीटरमारित्सबर्ग । वह डर्बन से आगे अन्दर कोई ६० मील दूर है । समुद्र से कोई दो हजार फीटकी ऊंचाई पर बसा है । डर्बन की आबहवा बंबई से कुछ कुछ मिलती है । पर बंबई से वहां की हवा कुछ सर्द जरूर है । नेटाल से आगे और अन्दर बढने पर ट्रान्सवाल आता है । वहां की धरती आज संसार को सब से ज्यादह सोना दे रही है । वहां कुछ साल पहले हीरे की भी खानें निकली थीं । उनसे पृथ्वी का सब से बडा हीरा निकला था । कोहिनूर से बडा हीरा रूस के पास समझा जाता है । उसका नाम खान के मालिक के नाम पर रक्खा गया है और वह कीनन हीरा कहलाता है ।

परन्तु जोहानीस्बर्ग के सुवर्णपुरी होते हुए तथा हीरे की खानें भी उसके नजदीक होते हुए वह ट्रान्सवाल की राजधानी नहीं । ट्रान्सवाल की राजधानी प्रिटोरिया है । जोहानीस्बर्ग से ३६ मील दूर है । वहां खास करके राज-दरबारी आदमी तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले लोग रहते हैं । इससे वहां के वायु-मण्डल को शान्तिपूर्ण कह सकते हैं । पर जोहानीस्बर्ग का वायुमण्डल बहुत अशान्त है । जिस प्रकार हिन्दुस्तान के किसी शान्तिपूर्ण देहात से अथवा छोटे से शहर से बंबई पहुंचने पर वहां के धूम-धडके और अशान्ति से हमारा जी घबडा उठता है इसी प्रकार प्रिटोरिया से जानेवालों को जोहानीस्बर्ग का दृश्य मालूम होता है । यदि यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि जोहानीस्बर्ग के लोग चलते नहीं बल्कि दौडते हैं । किसीको किसीकी तरफ देखने भर की फुरसत नहीं रहती और सब लोग इसी फिराक में डूबे रहते हैं कि थोडे से थोडे समय में अधिक से अधिक धन किस तरह कमा लें । ट्रान्सवाल को छोड कर और भी अन्दर पश्चिम में यदि हम जायं तो ऑरेंज फ्री स्टेट अथवा

आरेंजिया रियासत आती है। उसकी राजधानी ब्लुमफोंटीन है। यह अत्यन्त शान्त और छोटा-सा शहर है। आरेंजिया में खानें-वानें कुछ नहीं हैं। वहां से थोडे घण्टे रेल की यात्रा करके हम केप कालोनी की सरहद पर पहुंच जाते हैं। केप कालोनी यहां सबसे बडा राज्य है। उसकी राजधानी और बडे बन्दर का नाम केप टाउन है। वहीं केप आव् गुड होप नाम का अन्तरीप है। 'गुड होप' के मानी है शुभ आशा। वास्कोडिगामा जब पोर्टुगाल से भारत की खोज में निकला तब उसने यहां आ कर जहाज ठहराया और यहां उसे आशा बंधी कि अब अवश्य अपनी मुराद पूरी होगी। इसीसे उसने इस स्थान का नाम रक्खा शुभ आशा का अन्तरीप। इन चार अंगरेजी रियासतों के अलावा ब्रिटिश सल्तनत की 'रक्षा' के अधीन बहुतेरा प्रदेश है, जहां दक्षिण-आफ्रिका में योरपियनों के आगमन के पहले के बाशिन्दा रहते हैं।

दक्षिण-आफ्रिका का मुख्य पेशा खेती है। खेती के लिए यह देश उत्तम है। कितने ही भाग तो अत्यन्त उपजाऊ और सुहावने हैं। मकई वहां बहुत और आसानी से पैदा होती है। मकई दक्षिण आफ्रिका के हबशियों का प्रधान भोजन है। कितनी ही जगह गेहूं भी पैदा होता है। फलों के विषय में तो दक्षिण आफ्रिका मशहूर है। नेटाल में बीसों किस्मों के और बडे बढिया केले, पपीते और अननस पकते हैं और सो भी इतनी तादाद में कि गरीब से गरीब आदमी उन्हें खा सकता है। नेटाल तथा दूसरी रियासतों में नारंगी, संतरे, 'पीच' और 'एप्रिकाट' (जर्दालू) की तो इतनी इफरात वहां है कि हजारों आदमियों को मामूली मिहनत पर देहात में मुफ्त मिल सकते हैं। केप कालोनी तो अंगूर और 'प्लम' (एक तरह का बडा बेर) की भूमि है। वहां

जैसा अंगूर शायद ही दूसरी जगह फलता हो। और मौसिम पर वे इतने सस्ते हो जाते हैं की एक गरीब आदमी भी पेट भर कर के खा सके। जहां हिन्दुस्तानी रहते हों वहां आम के पेड न हों, यह नहीं हो सकता। हिन्दुस्तानियों ने आम की गुठलियां लगाईं। इससे वहां आम भी अच्छी तादाद में मिल सकते हैं। कुछ किस्म के आम तो बंबई के 'हापुस पायरी' का जरूर मुकाबला कर सकते हैं। साग-तरकारी भी उस रसीली भूमि में बहुत पैदा होती है। और शौकीन हिन्दुस्तानियों ने तो हिन्दुस्तान की लगभग हर-किस्म की साग--तरकारी वहां तैयार कर रक्खी है।

मवेशियों की तादाद भी खूब है। गाय-बैल हिन्दुस्तान के गाय-बैल से ज्यादह ऊंचे-पूरे और मोटे-ताजे बलवान् होते हैं। गोरक्षा का दावा करनेवाले हिन्दुस्तान में अनेक गायों-बैलों को हिन्दुस्तान के लोगों की तरह दुबला-पतला देख कर मुझे बडी शर्म मालूम होती रहती है और अनेक बार मेरा हृदय रोया है। मुझे याद नहीं पडता कि दक्षिण-आफ्रिका में दुबली गाय या बैल मैंने देखे हों—हालां कि मैं प्रायः अपनी आंखें खोल कर सारे देश में घूमा हूं। कुदरत ने अपने अन्य उपहारों के साथ इस भूमि को सृष्टि-सौन्दर्य से सजाने में कोई कसर नहीं रक्खी है। डर्बन का दृश्य बडा ही सुन्दर माना जाता है; परन्तु केप कालोनी उससे बढ जाता है। केप टाउन 'टेबल माउंटन' नाम के एक पहाड की तलहटी पर बसा हुआ है, न बहुत ऊंचा न बहुत नीचा। एक विदुषी ने जो दक्षिण-आफ्रिका की भक्त हैं, इस पहाड पर एक कविता लिखी है। उसमें वह कहती है कि जो अलौकिकता मैंने 'टेबल माउंटन' में अनुभव की है वह किसी पहाड में नहीं।

इसमें चाहे अत्युक्ति हो--मेरी राय में अत्युक्ति है,—पर इसकी एक बात मुझे जंच गई। वह कहती है कि 'टेबल माउन्टन' केप-टाउन के निवासियों के मित्र का काम देता है। यह बहुत ऊंचा नहीं है जिससे डरावना नहीं मालूम होता। लोगों को दूर ही से उसका पूजन कर के नहीं रह जाना पडता। वे तो उस पहाड में ही अपना घर बना कर रहते हैं। वह बिल्कुल समुद्र के किनारे है। समुद्र अपने निर्मल जल से उसकी पादपूजा करता है और उसका चरणामृत पीता है। क्या बालक, क्या बूढे और क्या स्त्रियां सब निडर हो कर तमाम पहाड में घूम-फिर सकते हैं और हजारों शहरातियों के कोलाहल से सारा पहाड रोज गूंज उठता है। विशाल वृक्ष, सुगन्धित और रंग-बिरंगे पुष्प सारे पहाड को इस तरह सजाते हैं कि देख कर, घूम कर लोग अघाते ही नहीं।

दक्षिण आफ्रिका में ऐसी बडी नदियां नहीं हैं जिनकी तुलना गंगा यमुना के साथ की जा सके। कुछ हैं, पर वे छोटी हैं। इस देश में कितनी ही जमीन ऐसी है जहां नदी का पानी पहुंचता ही नहीं। ऊंचे प्रदेशों में नहरें भी कैसे कट सकती हैं? जहां समुद्र सदृश नदियां न हों वहां नहरें कहां से हो सकती हैं? दक्षिण-आफ्रिका में कुदरत ने जहां जहां पानी की तंगी कर रक्खी है वहां पाताल के ऐसे गहरे कुए खोदे गये हैं और हवा चक्की तथा भाप यन्त्रों के द्वारा पानी खींच कर सिंचाई की जाती है। खेती के लिए वहां की सरकार की तरफ से बहुत मदद मिलती है। किसानों को सलाह मशवरा देने के लिए सरकार खेती के विशेषज्ञों को भेजती है। कितनी ही जगह सरकार प्रजा के लिए खेती के अनेक प्रयोग करती है, नमूने के खेत तैयार करती है,

लोगों को मवेशियों और बीज की सुविधा कर देती है—बहुत कम दाम पर पाताल—ऐसे गहरे कुवों की मिट्टी वगैरह निकलवा देती है और उनका खर्च किश्तों के द्वारा लेने की सहूलियत उन्हें कर देती है। इसी प्रकार खेतों के आस-पास लोहे के कांटेदार तार लगवा देती है।

दक्षिण-आफ्रिका भू-मध्य-रेखा से दक्षिण की ओर है, हिन्दुस्तान उत्तर की ओर। इससे वहां का सारा वायु-मण्डल हिन्दुस्तानियों को अटपटा मालूम होता है। वहां की ऋतुयें भी अटपटी हैं। जब हमारे यहां गरमी की ऋतु होती है तब वहां जाडे की ऋतु होती है। बारिश का कोई खास नियम नहीं। जब चाहे तभी आ जाती है। बारिश आमतौर पर २० इंच से ज्यादह नहीं होती।

अध्याय २

इतिहास

आफ्रिका के भूगोल पर दृष्टिपात करते हुए जिन विभागों को हमने देखा उन्हें आदिम विभाग न समझिएगा। ठेठ पुरातन काल में वहां किन लोगों की आबादी थी, यह ठीक ठीक निश्चित न हो पाया है। जब योरप के लोग दक्षिण-आफ्रिका में आबाद हुए तब वहां हबशी लोग रहते थे। यह माना जाता है कि जब अमरिका में गुलामी-प्रथा का जोरशोर था तब वहां से कितने ही हबशी भाग कर दक्षिण-आफ्रिका में आ बसे थे। उनके जुदी जुदी जातियां होती हैं-जैसे जुलू, स्वाजी, बसूटो, बेकवाना आदि। उनकी भाषा में भी फर्क होता है। इन हबशियों को दक्षिण आफ्रिका के आदिम निवासी कह सकते हैं। परन्तु दक्षिण-आफ्रिका इतना बडा देश है कि जितनी आबादी अभी हबशियों की वहां है उसके २०-३० गुना लोग बा-मिजाज़ समा सकते हैं। डर्बन से केपटाउन रेल के रास्ते कोई १,८०० मील की यात्रा करनी पडती है। समुद्र के रास्ते १००० मील से कम फासला नहीं है। इन चार रियासतों का क्षेत्रफल ४,७३,००० वर्गमील है।

इस विशाल प्रदेश में हबशियों की आबादी १९१४ ई० में कोई ५० लाख थी और गोरों की कोई १३ लाख। हबशियों में जुलू सब से ज्यादह ऊंचा-पूरा और खूबसूरत माना जा सकता है। खूबसूरत विशेषण का प्रयोग मैंने जानबूझ कर किया है। हम लोग गोरे चमड़े और तीखी नाक पर खूबसूरती का आरोप करते हैं। इस वहम को ज़रा देर के लिए ताक पर रख दें तो हमें यह न प्रतीत हो कि जुलू की सृष्टि कर के ब्रह्मा ने किसी बात में कमी रक्खी है। स्त्री पुरुष दोनों ऊंचे होते हैं। और ऊंचाई के ही लिहाज़ से उनकी छाती विशाल होती है। सारे शरीर की रगें बातरतीब और बहुत मजबूत होती हैं। उनकी पिंडली और भुजा मांसल और गोलाकार दिखाई देती हैं। स्त्री या पुरुष झुक कर या कुब्बड निकाल कर चलते हुए शायद ही दिखाई देंगे। हां, होंठ अलबत्ते बड़े और मोटे होते हैं। परन्तु सारे शरीर के आकार को देखते हुए मैं तो उन्हें ज़रा भी बे-डौल न कहूंगा। आंखें गोल और आबदार होती हैं। नाक चिपटी और मोटे मुंह को फबने लायक ही मोटी होती है। सिर के घुंघराले बाल शीशम के सदृश काले और चमकीले बदन पर खिल उठते हैं। यदि हम किसी जुलू से पूछें कि दक्षिण-आफ्रिका में रहनेवाली जातियों में तुम सब से अधिक सुरूप किसे मानते हो तो वह अपनी ही जाति का नाम पेश करेगा और इसमें मुझे उसका जरा भी अज्ञान नहीं दिखाई देता। योरप में सैंडो वगैरह जिन साधनों का प्रयोग अपने शागिर्दों के बाहु, छाती, इत्यादि अवयवों को सुदृढ बनाने के लिए करते हैं उनके प्रयोग के बिना ही कुदरती तौर पर इस जाति के अंग-प्रत्यंग गठीले और सुडौल दिखाई देते हैं। कुदरत का नियम है कि जो लोग भू-मध्य-रेखा के नजदीक रहते हैं उनका चमड़ा काला ही

होना चाहिए। और यदि हम यह मानें कि कुदरत जो जो नमूने तैयार करती है उनमें सुन्दरता जरूर होती है तो सौन्दर्य-संबंधी अपने संकुचित और एक-देशी विचारों से मुक्त हो जायं। यही नहीं, बल्कि भारत में भी हमें अपने किंचित् काले चमडे पर जो अनुचित शर्म और ग्लानि मालूम होती है वह भी जाता रहे।

ये हवशी लोग घास-फूस के गोलाकार कुबों (झोंपडों) में रहते हैं। इन कुबों के एक ही गोल दीवार होती है। और ऊपर फूस की साया। अन्दर एक खंभे पर फूस का आधार रहता है। उसमें एक ही दरवाजा होता है जिसमें झुक कर जा सकते हैं। यही हवा के आने-जाने का साधन है। उसे किंवाड शायद ही होते हैं। हम लोगों की तरह वे भी दिवारों को और नीचे की जमीन को मिट्टी और गोबर से लीपते हैं। ऐसा माना जाता है कि ये लोग किसी चौकोन चीज को नहीं बना सकते। उन्होंने अपनी आंखों को केवल गोल चीजें ही देखने और बनाने का आदी बनाया है। कुदरत भूमिति की सीधी रेखायें, सीधी आकृतियां, बनाती हुई नहीं दिखाई देती। और कुदरत के इन निर्दोष बालकों का ज्ञान उनके कुदरत-संबंधी अनुभव पर ही आधार रखता है।

उनके इस मिट्टी के महल में साज-सामान भी वैसाही होता है। योरप के सुधारों का प्रवेश होने के पहले वे चमडा ओढते, पहनते और बिछाते थे। मेज-कुरसी सन्दूक इत्यादि रखने की जगह इन महलों में न होतीं और बहुतांश में कह सकते हैं कि आज भी नहीं होती। अब वे कंबल इस्तेमाल करते हैं। अंगरेजी सत्ता के आने के पहले स्त्री-पुरुष प्रायः नंगे रहा करते थे। अब भी देहात में बहुतेरे लोग उसी तरह रहते हैं। गुह्य अवयवों को एक चमडे से ढंक लेते हैं। कोई नहीं भी ढंकते। पर कोई पाठक इसका

यह अर्थ न करे कि वे अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन नहीं रख सकते। जहां एक बडा समुदाय एक रूढी के अनुसार चलता हो तहां दूसरे समुदाय को वह रूढी बेजा मालूम होती हो, तिस पर भी यह बिल्कुल संभवनीय है कि पहले की दृष्टि में वह बिल्कुल दोषार्ह न हो। इन हबशियों को इतनी फुरसत ही नहीं होती कि एक दूसरे की ओर ताका करें। भागवतकार कहते हैं कि शुकदेवजी जब नग्न नहाती स्त्रियों के बीच से हो कर चले गये तब उनके मन में जरा भी विकार उत्पन्न न हुआ और न उन निर्दोष स्त्रियों के भी मन में क्षोभ हुआ और न शर्म मालूम हुई। इसमें मुझे कोई बात अलौकिक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तान में आज ऐसे अवसर पर कोई भी इतनी निर्मलता नहीं अनुभव कर सकता। यह मनुष्य-जाति की पवित्रता की हद नहीं, बल्कि हमारे दुर्भाग्य का चिह्न है। हम जो इन्हें जंगली मानते हैं यह हमारे अभिमान की प्रतिध्वनि है। जैसा हम मानते हैं ऐसे जंगली वे नहीं हैं।

ये हबशी जब शहर में आते हैं तब उनकी स्त्रियों के लिए ऐसा कानून है कि उन्हें छाती से लेकर घुटने तक शरीर ढंक लेना चाहिए। इसलिए उनको मजबूरन् एक कपडा लपेट लेना पडता है। इसके फल-स्वरूप दक्षिण-आफ्रिका में इस नाप के कपडे की बहुत बिक्री होती है और ऐसे लाखों कम्बल और चद्दर हर साल योरप से आती हैं। पुरुषों के लिए कमर से घुटने तक बदन ढांक रखना लाजिमी है। इससे उन्होंने तो योरप के पहने हुए कपडों को पहनने की प्रथा शुरू कर दी है। जो ऐसा नहीं करते वे नाडीदार चड्डियां पहनते हैं। ये तमाम कपडे योरप ही से आते हैं।

इनका मुख्य आहार है मकई और जब मिल जाय तब मांस। खुश-किस्मती से वे अभी मसाले वगैरह से बिल्कुल अनजान हैं।

इनके भोजन में यदि मसाला पडा हुआ हो या हलदी का रंग दिखाई दे तो नाक-भौंह सिकोडने लगेंगे। और जो बिल्कुल जंगली माने जाते हैं वे तो उसे छूवेंगे भी नहीं। एक सेर साबित उबाली हुई मकई को जरा जरा नमक लगा कर खा जाना एक मामूली ज़ुलू के लिए कोई बडी बात नहीं है। मकई के आटे को पानी में पका कर खा लेने में सन्तोष मानते हैं। जब कभी मांस मिल जाता है तब कच्चा, या पका अथवा भून कर नमक के साथ खा जाते हैं। किसी भी किस्म के प्राणी का मांस खाने में वे नहीं हिचकते।

उनकी भाषा का नाम भी ज़ुलू है। लेखन-कला का प्रवेश वहां गोरों ने ही किया है। हबशियों की कोई वर्णमाला नहीं। हाल में रोमन लिपि में बाइबिल वगैरह हबशियों की भाषा में छापी गई हैं। ज़ुलू-भाषा बडी ही मधुर है। बहुतेरे शब्द का उच्चारण आकारान्त होता है। इससे भाषा की ध्वनि कान को हलकी और मीठी लगती है। मैंने पढा और सुना है कि उसके शब्दों में अर्थ और कवित्व दोनों होते हैं। जिन थोडे शब्दों का ज्ञान मुझे अनायास हो गया है उससे मुझे भाषा-संबंधी पूर्वोक्त मत ठीक मालूम होता है। शहरों आदि के जो नाम मैंने पहले दिये हैं वे योरपियन लोगों के बनाये हुए हैं। उन सब के काव्य-मय हबशी नाम भी हैं। मुझे याद नहीं है। इससे यहां न दे सका।

हबशियों का धर्म ईसाई पादरियों के मत के अनुसार कुछ नहीं था और न है। पर धर्म का व्यापक अर्थ लें तो कह सकते हैं कि वे एक ऐसी अलौकिक शक्ति को जरूर मानते हैं, जिसे वे पहचान नहीं सकते, और उसकी पूजा करते हैं। वे उस शक्ति से डरते भी हैं। उन्हें यह भी धुंधले तौर पर जान पडता है कि शरीर के नाश के साथ मनुष्य सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता। यदि

नीति को हम धर्म की बुनियाद मानें तो वे नीति के कायल हैं और इसलिए हम उन्हें धर्मवान् भी कह सकते हैं। सच और झूठ का उन्हें पूरा खयाल है। अपनी स्वाभाविक अवस्था में वे जिस हदतक सत्य का पालन करते हैं उस हदतक गोरे अथवा हम लोग पालन करते हैं या नहीं, इसमें सन्देह है। मन्दिर आदि उनके नहीं होते। दूसरे लोगों की तरह उनमें भी बहुतेरे वहम पाये जाते हैं। शरीर की मजबूती में यह जाति संसार की किसी जाति से कम नहीं। फिर भी पाठकों को आश्चर्य होगा कि यह जाति ऐसी डरपोक है कि एक गोरे बच्चे को देख कर भी डर जाती है। यदि उसके सामने कोई पिस्तोल उठा लेता है तो या तो वे भाग जाते हैं या ऐसे मूढ बन जाते हैं कि उनके पैरों में भागने की भी ताकत नहीं रहती। इसका कारण अवश्य है। उनके दिल में यह बात पैठ गई है कि मुट्ठीभर गोरे जो ऐसी बडी जंगली जाति को अपने अधीन कर पाये हैं उसमें कोई जादू जरूर होना चाहिए। वे भाला फेंकना और तीर चलाना खूब जानते थे। पर अब वे सब छीन लिये गये हैं। बन्दूक उन्होंने न कभी देखी न चलाई। न दियासलाई दिखानी पडती है, न उंगली चलाने के सिवा कोई क्रिया करनी पडती है फिरभी एक छोटी सी नली से एकाएक जोर की आवाज होती है, ज्वालासी दिखाई देती है और गोली लगकर देखते ही देखते आदमी धडाम् से गिर कर मर जाता है—इसका मर्म उनकी समझ में नहीं आता। इससे वे हमेशा इसके चलने के डर से बदहवास रहते हैं। उन्होंने और उनके बापदादों ने देखा है कि ऐसी गोलियों ने आज तक अनेक निराधार और निर्दोष हबशियों के प्राण हरण किये हैं। इसका कारण बहुतेरे हबशी आजतक नहीं जानते।

इस जाति में समाज-सुधार धीरे धीरे घुस रहा है। एक ओर से सज्जन पादरी, अपनी समझ के अनुसार, ईसा-मसीह का सन्देश उन्हें पहुंचाते हैं, उनके लिए मदरसे खोलते हैं और उन्हें मामूली लिखना-पढना सिखाते हैं। इनकी कोशिश से कितने सुशील हबशी तैयार भी हुए हैं। परन्तु ऐसे कितने ही लोग जो अबतक अक्षर-ज्ञान और समाज-सुधार से परिचय न रखते थे ढोंगी भी हो गये हैं। शायद ही कोई ऐसा हबशी शराबखोरी के दुर्व्यसन से बचा हो, जिसका साबका इन सुधारों से पड चुका हो। उन हट्टे-कट्टे मस्त लोगों के सिर जब शराब का नशा सवार होता है तब वे पूरे पागल हो जाते हैं और सब-कुछ कर गुजरते हैं। सुधारों की जहां बढती हुई कि जरूरतें बढीं। यह दो और दो, चार के बराबर सत्य है। अपनी जरूरतें बढाने के लिए कहिए अथवा उन्हें मिहनत की कीमत सिखाने के लिए कहिए, सबको हेड टैक्स, कुबा-टैक्स देना पडता है। यदि ये टैक्स उनपर न लगाये जायँ तो यह खेतों में रहने वाली कौम पृथ्वी के पेट के अन्दर सैंकडों गज गहरी खानों में सोना और हीरे निकालने के लिए क्यों उतरे? और यदि खानों के लिए इनकी मजदूरी सुलभ न हो तो सोना और हीरे पृथ्वी के उदर में ही न रह जायं? उसीप्रकार उनपर कर बैठाये बिना योरपियन लोगों को नौकर मिलना भी मुश्किल हो जाय। फल यह हुआ कि खानों के अन्दर काम करनेवाले हजारों हबशियों को दूसरे रोगों के साथ एक तरह का क्षय रोग भी हो जाता है जिसे 'माइन्डस थाइसिस' कहते हैं। यह रोग प्राणहारक है। उसके चंगुल में फंसे बाद शायद ही कोई बच सकता है। ऐसे हजारों लोग जब एक खान के अन्दर रहते हैं और साथ में उनके बालबच्चे न हों तो पाठक सहज ही कल्पना

कर सकते हैं कि वे संयम का पालन कहांतक कर सकते होंगे ? उसके फल स्वरूप पैदा होनेवाले रोगों के भी शिकार वे लोग हो जाते हैं । दक्षिण-आफ्रिका के विचारशील गोरे भी इस प्रश्न का विचार न करते हों सो बात नहीं । ऐसे कितने ही गोरे जरूर मानते हैं कि इन सुधारों का असर समष्टि-रूप से इन लोगों पर अच्छा ही हुआ है, यह दावा शायद ही किया जा सके । इसका बुरा असर तो किसी भी शख्स को दिखाई दे सकता है ।

इस महान् देश में जहां ऐसी भोली-भाली जाति बसती थी, कोई चार सौ साल पहले वलन्दा लोगों ने अपना पडाव डाला । वे गुलाम तो रखते ही थे । अपने जावा-राज्य से कितने ही वलंदा अपने मलायी गुलामों को ले कर उस प्रान्त में आये जिसे हम आज केप कालोनी के नाम से जानते हैं । ये मलायी लोग मुसलमान हैं । उनमें वलदा लोगों का खून है और उसीके अनुसार कितने ही गुण भी हैं । वे सारे दक्षिण-आफ्रिका में इक्के-दुक्के फैले हुए नजर आते हैं। परन्तु उनका मुख्य स्थान केपटाउन है। आज उनमें कितने ही लोग गोरों की नौकरी करते हैं और दूसरे अपना निजी पेशा करते हैं । मलायी स्त्रियां बहुत उद्योगी और होशियार होती हैं । उनकी रहन-सहन बहुत-कुछ साफ-सुथरी दिखाई देती है । औरतें सीना-पिरोना और कपडे-धोना बहुत अच्छा जानती हैं । मर्द कुछ छोटा-बडा रोजगार करते हैं। कितने ही लोग गाडियां हांक कर अपनी गुजर कर लेते हैं। कुछ लोगों ने उच्च शिक्षा भी पाई है । उनमें एक डाक्टर अब्दुल रहमान केपटाउन में विख्यात हैं । वे केपटाउन की पुरानी धारा-सभा में भी पहुंच पाये थे । नवीन विधान के अनुसार मुख्य धारासभा में जाने का यह अधिकार छीन लिया गया है ।

वलन्दा लोगों का वर्णन करते हुए बीच में मलायी लोगों का भी कुछ बयान आ गया। अब जरा यह देखें कि वलन्दा लोग किस तरह आगे बढ़े। यह कहने की जरूरत नहीं कि वलन्दा डच लोगों को कहते हैं। ये लोग बहादुर लड़वैया थे और हैं। उतने ही कुशल खेतिहर थे और आज भी हैं। उन्होंने देखा कि हमारे आस-पास का मुल्क खेती के बहुत लायक है। उन्होंने देखा कि वहां के निवासी साल में थोड़ा ही समय काम कर के अपनी गुजर आसानी से कर सकते हैं। तो फिर उनसे मजदूरी क्यों न करावें? वलन्दा के पास अपना हुनर था, बन्दूक थी, और वे यह भी जान सकते थे कि मनुष्यों तथा दूसरे जीवधारियों पर किस प्रकार अपना काबू करें। उनका यह विश्वास था कि ऐसा करने में धर्म की कोई बाधा नहीं है। अतएव अपने कार्य के औचित्य के विषय में जरा भी शंकाशील हुए बिना उन्होंने दक्षिण-आफ्रिका के निवासियों की मजदूरी के बलपर खेती वगैरह करना शुरू किया। जिस प्रकार वलन्दा दुनिया में अपना फैलाव करने के लिए अच्छी अच्छी जमीनें खोज रहे थे उसी तरह अंगरेज लोग भी जमीन की फिराक में थे। धीरे धीरे अंगरेज भी वहां आये। अंगरेज और डच चचेरे भाई तो हई हैं। दोनों की खासियत एक, लोभ एक। जब एक ही कुम्हार के मटके एक जगह जुट जाते हैं तब किसी वक्त टकराते भी हैं, फूटते भी हैं। इसी प्रकार वे दोनों जातियां अपना पांव पसारते हुए और धीरे धीरे हबशियों पर अपना कब्जा करते हुए आपस में लड़ पड़ीं। झगड़े हुए—लड़ाइयां भी हुईं। मजूबा की पहाड़ी पर अंगरेज लोग हारे भी। यह मजूबा का दाग रह गया और पक कर फोड़ा बन गया। १८९९ से १९०२ तक जो संसार-प्रसिद्ध बोअर-युद्ध हुआ उसमें वह फोड़ा

फूटा और जनरल कोन्जे को जब लार्ड राबर्टस ने शिकस्त दी तब उन्होंने स्वर्गीया महारानी विक्टोरिया को तार किया—'मजूवा का बदला ले लिया।' परन्तु जब पहली—(बोअर-युद्ध के पहले की) चकमक इन दोनों के बीच हुई तब बहुतेरे वलन्दा लोग अंगरेजों की नाममात्र की सत्ता भी कुबूल करना नहीं चाहते थे। इससे वे दक्षिण आफ्रिका के भीतरी भागों में चले गये। फलतः ट्रान्सवाल और आरेंज फ्री-स्टेट की सृष्टि हुई।

यही वलन्दा अथवा डच लोग दक्षिण-आफ्रिका में 'बोअर' के नाम से प्रसिद्ध हुए। बच्चा जिस प्रकार माता की सेवा करता है उसी प्रकार उन्होंने अपनी भाषा की सेवा करके उसको सुरक्षित रक्खा है। उनकी नस नस में यह बात पैठ गई है कि आजादी का घनिष्ठ संबंध भाषा से है। कितने ही आक्रमण होने पर भी वे अपनी मातृभाषा की रक्षा कर रहे हैं। अब इस भाषा ने ऐसा नवीन रूप धारण कर लिया है जो वहां के लोगों को अनुकूल पडे। वे हालैंड के साथ अपना घनिष्ठ संबंध न रख सके। इससे जिस प्रकार संस्कृत से प्राकृत भाषायें निकली है उसी प्रकार डच से अपभ्रष्ठ डच बोअर लोग बोलने लगे। पर अब वे अपने बच्चों पर गैरजरूरी भार डालना नहीं चाहते। इस लिए उन्होंने इस प्राकृत बोली को स्थायी रूप दे दिया है और उसे 'टाल' कहते हैं। उसी भाषा में उनकी पुस्तकें लिखी जाती हैं। बालकों को शिक्षा उसी भाषा में दी जाती है। और धारासभा में बोअर सभासद टाल-भाषा में ही भाषण करते हैं। युनियन के बाद सारे दक्षिण-आफ्रिका में दोनों भाषायें—टाल अथवा डच और अंगरेजी-एकसी प्रतिष्ठित हैं—यहांतक कि वहां नियम है कि सरकारी गजेट दोनों भाषाओं में प्रकाशित होना चाहिए और धारा-

सभा की कार्रवाई भी दोनों भाषाओं में छापनी चाहिए। बोअर लोग सादगी से रहनेवाले और पक्के धर्मनिष्ठ हैं। विशाल खेतों में बसते हैं। हम वहां के खेतों के विस्तार का अन्दाज तक नहीं कर सकते। हमारे यहां के किसानों के खेत २–३ बीघे से अधिक नहीं होते। इससे भी कम होते हैं। वहां के खेतों का न पूछिए–सैकडों अथवा हजारों बीघा जमीन एक एक शख्स के कब्जे में होती है। इन किसानों को यह भी लोभ नहीं होता कि तमाम जमीन जोत डालें। और यदि कोई कहे तो कहते हैं–"पडी न रहे। जिसे हम न जोत पावेंगे उसे हमारी औलाद जोतेगी।"

हरएक बोअर युद्ध–कला में पूरा पूरा प्रवीण होता है। वे चाहे अपने आपस में भले ही लड–झगड लें पर उन्हें अपनी आजादी इतनी प्यारी होती है कि जब उनपर किसी का हमला होता है तब तमाम बोअर उसका सामना करने को तैयार हो जाते हैं और एक शरीर की तरह लडते हैं। उन्हें कवायद–परेट की भारी जरूरत नहीं होती। क्योंकि लडना तो उनकी सारी जाति का स्वभाव या गुण है। जनरल स्मट्स, जनरल डीवेट, जनरल हर्जोग तीनों बडे वकील हैं, और बडे कृषिकार हैं, और तीनों वैसे ही लडवैया भी हैं। जनरल बोथा के पास ९ हजार एकड का एक खेत था। खेती की तमाम पेचीदगियां वे जानते थे। जब ये सुलह के लिए योरप गये तब उनके संबंध में यह कहा गया था कि भेडों की परीक्षा में उनके जैसा निपुण योरप में भी शायद ही कोई हो। ये जनरल बोथा स्वर्गीय प्रेसिडेंट क्रूगर के स्थानापन्न हुए थे। वे अच्छी अंगरेजी जानते थे। पर जब वे इंग्लैंड में सम्राट् से तथा मन्त्रि–मण्डल से मिले तब उन्होंने हमेशा अपनी ही मातृभाषा में बात–चीत करना पसन्द किया। कौन कह

सकता है कि यह यथार्थ नहीं था ? अंगरेजी-भाषा के ज्ञान का परिचय देने के लिए भूलें कर बैठने के खतरे में क्यों पड़ें ? मौजूं शब्द की खोज करते हुए अपनी विचार-श्रेणी के भंग करने का साहस किसलिए करें ? मन्त्रि-मण्डल यदि केवल अनजान में कुछ अपरिचित मुहावरों का प्रयोग करें; वे उनका अर्थ न समझ पावें और कुछ का कुछ जवाब निकल जाय, शायद गडबडा भी जायं और उससे अपनी हानि कर बैठें तो ऐसी गहरी भूल वे क्यों करें ?

बोअर पुरुष जिस प्रकार बहादुर है और सादगी से रहते हैं उसी प्रकार उनकी स्त्रियां भी वीर और सादगी-पसन्द हैं। बोअर-युद्ध के समय बोअर लोगोंने जो अपना इतना खून बहाया वह उनकी स्त्रियों की हिम्मत और उत्साह के बल पर । स्त्रियों को न तो विधवा हो जाने का डर था, न भविष्य का डर था। मैं ऊपर कह चुका हूं कि बोअर लोग कट्टर धर्मनिष्ठ हैं, ईसाई हैं। पर यह नहीं कह सकते कि वे ईसा-मसीह के 'न्यू टेस्टामेंट' को मानते हैं। सच पूछिए तो योरप भी 'न्यू टेस्टामेंट' को कहां मानता है ? फिर भी योरप में 'न्यू टेस्टामेंट' को मानने का दावा जरूर किया जाता है—हां, कितने ही योरप-वासी अलबत्ते ईसा-मसीह के शान्ति-धर्म को जानते और पालते हैं। पर बोअर लोग तो न्यू टेस्टामेंट का नाममात्र जानते हैं। हां, ओल्ड टेस्टामेंट को वे बडी भावुकता के साथ पढते हैं और उसकी लडाइयों के वर्णनों को रटते हैं। हजरत-मूसा की 'दांत के बदले दांत और आंख के बदले आंख' की नीति को सोलहों आना मानते हैं। और जैसा मानते हैं वैसा ही करते भी हैं।

बोअर स्त्रियों ने भी यह समझकर कि अपनी स्वतन्त्रता की

रक्षा के लिए चाहे कितना ही कष्ट-सहन करना पड़े, यह धार्मिक फरमान है, धीरज और आनन्द के साथ तमाम आपत्तियाँ सहन कीं। औरतों को झुकाने के लिए स्वर्गीय लार्ड किचनर ने किसी उपाय में कसर नहीं रक्खी। अलग अलग हिस्सों में उन्हें बन्द कर रक्खा। वहां उनपर असह्य आपत्तियां आईं। खाने-पीने की सांसत, सरदी-गरमी के मारे बेहाल। कोई शराब के नशे में चूर अथवा कामांध सोल्जर इन बिना धनी-धोरी की स्त्रियों पर हमला भी कर बैठता। इन हातों में अनेक प्रकार के उपद्रव पैदा होते थे। ऐसा होते हुए भी ये बहादुर औरतें न झुकीं। और अन्त को खुद किंग एडवर्ड ने ही लार्ड किचनर को लिखा कि "यह मैं सहन नहीं कर सकता। यदि बोअर लोगों को झुकाने का यही इलाज हमारे पास हो तो इसकी अपेक्षा मैं हर तरह की सुलह को पसन्द कर लूंगा। लड़ाई को आप शीघ्र खतम कर दीजिए।"

इन तमाम कष्टों की आवाज़ जब इंग्लैंड में पहुंची तब अंगरेजी जनता को भी दुःख हुआ। बोअरों की बहादुरी से वे लोग आश्चर्य-चकित हो गये। यह बात अंगरेज लोगों को चुभा करती थी कि इतनी-सी छोटी जाति ने दुनियां में चारों ओर फैली सल्तनत के छक्के छुडा दिये। पर जब इन हातों के अन्दर मुंदी हुई स्त्रियों का आर्तनाद उन औरतों के द्वारा नहीं, उनके मर्दों के द्वारा नहीं—वे तो संग्राम में ही जूझ रहे थे—बल्कि दक्षिण-आफ्रिका के इक्के-दुक्के उदारचरित अंगरेज स्त्री-पुरुष के द्वारा वहां पहुंचे तब अंगरेज जनता सोच में पडी। स्वर्गीय सर हेनरी केम्पबेल बैनरमैन ने अंगरेजी जनता के हृदय को पहचाना और लड़ाई के खिलाफ गर्जना की। स्वर्गीय श्री स्टेड ने प्रकाश्य-रूप से ईश्वर से प्रार्थना की और दूसरों को भी प्रेरणा की कि इस लड़ाई में ईश्वर अंगरेजों

को हरावे। 'यह दृश्य अद्भुत था। सच्चा कष्ट यदि सचाई के साथ सहन किया जाय तो वह पत्थर जैसे हृदय को भी पानी पानी कर डालता है। कष्ट-सहन की अर्थात् तपस्या की महिमा ऐसी ही है। और यही सत्याग्रह की कुंजी है।'

नतीजा यह हुआ कि फ़ीनिखन की सुलह हुई और अन्त को दक्षिण-आफ्रिका की चारों रियासतें एक तन्त्र के अधीन हुईं। यद्यपि इस सुलह की बात को हरएक अखबार पढनेवाला हिन्दुस्तानी जानता है तथापि एक दो बातें ऐसी हैं जिनका खयाल तक होने की संभावना बहुतों को नहीं। फ़ीनिखन की सुलह के साथ ही चारों रियासतें संयुक्त न हो गई थीं। हरएक के लिए अपनी अपनी धारासभा थी। उनका कार्यकारी-मण्डल पूरे तौर पर इन धारासभाओं के नजदीक जबाबदेह न था। ऐसे संकुचित हक से जनरल बोथा अथवा जनरल स्मट्स को सन्तोष नहीं हो सकता था। लार्ड मिलनर ने बिना दुलहे की बारात ले जाना निश्चित किया। जनरल बोथा धारासभा से अलग रहे। उन्होंने असहयोग किया। सरकार से संबंध रखने से साफ इन्कार कर दिया। लार्ड मिलनर ने एक उग्र भाषण किया और कहा कि जनरल बोथा को यह मान लेने की जरूरत नहीं है कि इतना सारा भार उनके सिर पर है। राज्य-कार्य उनके बिना भी चलाया जा सकेगा।

बोअरों की बहादुरी, उनकी स्वतन्त्रता, उनकी कुरबानी का वर्णन मैंने बिना किसी संकोच के किया है; पर इससे मैं पाठकों का यह खयाल नहीं बनाना चाहता था कि संकट के समय में भी इनमें मत-भेद नहीं हो सकता अथवा कोई कमजोरी का परिचय नहीं दे सकता। बोअरों में भी लार्ड मिलनर ऐसा दल खड़ा कर सके जो आसानी से राजी हो गया और मान लिया कि इनकी

मदद से मैं धारासभा को चमका सकूंगा । एक नाटककार भी मुख्य पात्र के बिना अपने नाटक को सुशोभित नहीं कर सकता । तो इस जटिल और दुर्गम संसार में कारोबार करनेवाला मनुष्य यदि मुख्य पात्र को भूल कर सफल होने की आशा रक्खे तो उसे पागल समझना चाहिए । सचमुच यही दशा लार्ड मिलनर की हुई । और यह भी कहा जाता था कि उन्होंने धमकी दे तो दी परन्तु ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट का कार्य-संचालन जनरल बोथा के बिना करना उन्हें इतना कठिन हो गया कि वे अपने बगीचे में चिन्तातुर और बदहवास नजर आते ! जनरल बोथा ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि फ्रीनिखन के सुलहनामे का अर्थ मैं तो यही स्पष्ट तौरपर समझता हूं कि बोअर लोगों को अपनी भीतरी व्यवस्था का पूरा पूरा अधिकार तुरन्त मिलेगा । और उन्होंने कहा यदि ऐसा न होता तो मैं उसपर कभी दस्तखत न करता । लार्ड किचनर ने इसके जवाब में यह कहा कि हमने जनरल बोथा को किसी तरह ऐसा विश्वास नहीं दिलाया था । बोअर लोग ज्यों ज्यों विश्वास-पात्र साबित होते जायंगे त्यों त्यों धीरे धीरे उन्हें स्वतन्त्रता मिलती जायगी ! अब इन दोनों का इन्साफ कौन करे ? यदि कोई पंच की बात कहता तो भी जनरल बोथा क्यों मानने लगे ? उस समय बड़ी सरकार ने जो इन्साफ किया वह उसे सब तरह से जेबा देने लायक था । उसने मंजूर किया कि प्रतिपक्ष और उसमें भी निर्बल पक्ष-समझौते का जो अर्थ समझा हो वही अर्थ सबल पक्ष को स्वीकार करना चाहिए । न्याय और सत्य की नीति के अनुसार तो हमेशा यही अर्थ सच होता है । अपने कथन का अर्थ मैंने अपने मन में चाहे जो कर रक्खा हो, पर मुझे मानना चहिए कि उसका जो भाव पढनेवाले अथवा सुननेवाले के चित्तपर अंकित हो उसी भाव में

मैंने वह वचन कहा या लेख लिखा था। इस सुनहले नियम का पालन हम व्यवहार में बहुत बार नहीं करते। इसीसे कई झगडे खडे होते हैं और सत्य के नामपर अर्धसत्य–अर्थात् डेढ असत्य–से काम लिया जाता है।

इस प्रकार जब सत्य की अर्थात् यहां जनरल बोथा की, पूरी विजय हुई तब वे काम में जुटे। फलतः तमाम राज्य एकत्र हुए और दक्षिण–आफ्रिका को पूरी पूरी स्वतन्त्रता मिली। झण्डा यूनियन जैक है, नकशे में इस प्रदेश का रंग लाल है, फिर भी यह मानने में जरा भी ज्यादती नहीं कि दक्षिण–आफ्रिका पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। ब्रिटिश–साम्राज्य दक्षिण–आफ्रिका के कार्यकर्त्ताओं की राय के बिना दक्षिण–आफ्रिका से एक पाई नहीं ले जा सकता। इतना ही नहीं बल्कि ब्रिटिश मन्त्रियों ने यह स्वीकार किया है कि यदि दक्षिण–आफ्रिका ब्रिटिश झण्डे को निकाल डालना चाहे और नाम में भी स्वतन्त्र होना चाहे तो उसे कोई नहीं रोक सकता। और यदि आज दक्षिण–आफ्रिका के गोरे ऐसा नहीं करते हैं तो उसका सबल कारण है। एक तो यह कि बोअर लोगों के नेता बुद्धिमान और समझदार हैं। ब्रिटिश–साम्राज्य के साथ यदि इस प्रकार की मित्रता रक्खी जाय अथवा ऐसा संबंध रक्खा जाय, जिसमें खुद कुछ खोना न पडे तो यह बेजा नहीं। पर इसके अतिरिक्त दूसरा व्यावहारिक कारण भी है। वह यह कि नेटाल में अंगरेजों की संख्या अधिक है, कैपकालोनी में अंगरेजों की संख्या अधिक है पर बोअरों से अधिक नहीं और जोहान्सबर्ग में तो अंगरेजों का ही प्रभाव है। अतएव यदि बोअर लोग सारे दक्षिण–आफ्रिका में स्वतन्त्र प्रजासत्ताक राज्य स्थापित करना चाहें तो यह मानों घर में ही झगडा खडा करना है और शायद आपस में लडाई भी

चेत उठे। इससे दक्षिण आफ्रीका ब्रिटिश राज्य कहलाता है।

यह भी जानने लायक बात है कि यूनियन का कानून किस तरह बना। चारों रियासतों की धारासभाओं ने एकमत हो कर यूनियन का संगठन तैयार किया। संगठन ब्रिटिश पार्लमेन्ट को अक्षरशः कुबूल करना पडा। आम-सभा में एक सदस्य ने एक व्याकरण-दोष की ओर ध्यान खींच कर दूषित शब्द निकाल डालने की तजवीज पेश की। स्व० सर हेनरी केम्पबेल बैनरमैन ने उस तजवीज को नामंजूर करते हुए कहा कि राज्य-कार्य शुद्ध व्याकरण के द्वारा नहीं चल सकता। यह संगठन ब्रिटिश कार्यकारी-मण्डल और दक्षिण-आफ्रिका के राजकाजियों के सलाह-मशवरे के बाद तैयार हुआ है। उसके व्याकरण-दोष तक को दूर करने का अधिकार ब्रिटिश पार्लमेन्ट के लिए नहीं रक्खा गया है। अतएव यह संगठन आम और उमराव दोनों सभाओं में ज्यों का त्यों स्वीकार करना पडा।

इस मौके पर एक और बात भी लिखने लायक है। संगठन-पत्र में कितनी ही धारायें एसी हैं जो एक तटस्थ मनुष्य को फजूल मालूम होंगी। उससे खर्च भी बहुत बढ गया है। यह बात संगठन की रचना करनेवालों के ध्यान के भी बाहर नहीं थी। फिर भी उनका उद्देश पूर्णता को पहुंचना नहीं था, बल्कि यह था कि कुछ घटा-बढी कर के एकमत हों और अपना प्रयत्न सफल करें। इसीसे आजकल यूनियन की चार राजधानियां मानी जाती हैं; क्योंकि उपरियासतों में से कोई भी अपनी राजधानी का महत्व छोड देने के लिए तैयार नहीं था। चारों रियासतों की स्थानीय धारासभायें भी कायम रक्खी गई हैं। चारों रियासतों को गवर्नर जैसा कोई पदाधिकारी जरूर चाहिए—इसलिए चार हाकिम मंजूर

करना पड़े। सब लोग जानते हैं कि चार स्थानीय धारासभायें, चार राजधानियां और चार हाकिम अजागल-स्तन की तरह फजूल और एक आडम्बर-मात्र है। पर इससे कहीं आफ्रिका के व्यवहार-कुशल राजकाजी लोग डरने वाले थे? आडम्बर होते हुए भी और यदि इससे अधिक खर्च हो तो भी चारों रियासतों की एकता होना वांछनीय था। अतएव उन्होंने बाहर के लोगों की टीका-टिप्पणी की चिन्ता किये बिना वही किया जो उन्हें उचित दिखाई दिया और ब्रिटिश पार्लमेंट से मंजूर कराया।

यह दक्षिण-आफ्रिका का संक्षिप्त इतिहास मैंने पाठकों की जानकारी के लिए यहां देने की चेष्टा की है। उसके बिना सत्याग्रह के महान् संग्राम का रहस्य समझ में न आता। ऐसे प्रदेश में हिन्दुस्तानी लोग किस प्रकार आये और वहां सत्याग्रह-काल के पहले किस तरह अपने ऊपर आई आपत्तियों का मुकाबला किया, यह मूल विषय पर आने के पहले जानना जरूरी है।

अध्याय ३

दक्षिण-आफ्रिका में भारतीयों का आगमन

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके कि नेटाल में अंगरेज आ बसे। उन्होंने जुलुओंसे कितने ही हक ले लिये। अनुभव से वे यह भी देख सके कि नेटाल में गन्ना, चाय और काफी की पैदायश भी बडी अच्छी होती है। और बडे पैमाने पर इसकी खेती करने के लिए हजारों मजदूरों की आवश्यकता है। बिना उनकी सहायता के केवल पांच-पचीस अंगरेजी-परिवार ऐसी फसल नहीं पैदा कर सकते। उन्होंने हबशियों को यह काम करने के लिए ललचाया, और डराया भी। पर अब वह गुलामीकानून न रहा था। अतः वे सफलता पाने के लिए काफी बलप्रयोग न कर सके। हबशी लोग अधिक मिहनत नहीं करते। छ महीने तक मामूली मिहनत करके भी वे अपनी आजीविका भली भांति प्राप्त कर सकते हैं। फिर किसी मालिक के यहां वे अधिक दिन तक काम करने के लिए अपने आपको क्यों बांध लें? और जब तक स्थायी मजदूर न मिलें तब तक अंगरेज लोग अपने हेतु को पूरा नहीं कर सकते थे। अतः उन लोगों ने भारत-सरकार

से पत्रव्यवहार शुरु किया। और मजदूरों की सहायता मांगी। भारत-सरकार ने नेटाल गोरों की बात को स्वीकार किया। और सन १८४०-५० के लगभग पहला जहाज़ भारतीय मजदूरों को लेकर निकला।

मेरा खयाल है कि भारतीय सरकारने इस मांग को स्वीकार करते समय अधिक गहराई के साथ विचार नहीं किया। यहां के अंगरेज अधिकारी जाने-बेजाने अपने नेटालनिवासी भाइयों की तरफ झुके। हां, जहां तक हो सका मजदूरों की रक्षा की शर्तें उनके इकरारनामे में दर्ज करके उनके खानपान की व्यवस्था की चिन्ता भी प्रकट की। पर इस बात का किसी को भी पूरा खयाल न रहा कि इस प्रकार इतनी दूर जानेवाले अनपढ मजदूरों पर यदि कोई मुसीबत आ पडे तो वे किस तरह अपने को मुक्त कर सकते हैं। उनके धर्म का क्या हाल होगा? वे अपनी नीति की रक्षा कैसे करेंगे? इसका तो किसीने विचार भी नहीं किया। अधिकारियोंने यह भी नहीं सोचा कि यद्यपि कानून में गुलामी की प्रथा उठ चुकी थी किन्तु वहांके मालिकों के हृदय से दूसरों को गुलाम बनाने का लोभ नष्ट न हो पाया था। अधिकारियों को यह समझना चाहिए था कि बेचारे मजदूर इतनी दूर जाकर एक बडे समय के लिए गुलाम बनेंगे। पर यह बात भी उनके खयाल में नहीं आई। सर विलियम विल्सन हंटर ने, जिन्होंने इस स्थिति का गहन अध्ययन किया था, इसकी तुलना करते हुए दो शब्दों अथवा शब्द-समूह का उपयोग किया था। नेटाल के ही भारतीय मजदूरों के विषय में लिखते समय उन्होंने एक समय लिखा था कि यह तो नीम गुलामी है। दूसरे वक्त अपने पत्र में लिखते समय उन्होंने इस स्थिति को लगभग गुलाम की ही स्थिति बता कर उसका वर्णन

किया था। यही बात वहांके एक बडे से बडे गोरे निवासी, स्वर्गीय श्रीयुत एस्कंबे ने नेटाल के एक शिष्ट-मंडल के सामने गवाही देते हुए कुबूल की थी। यों तो इस बात का सुबूत नेटाल के कई अग्रगण्य अंगरेजों के मुंह से ही दिया जा सकता है और उनमें अधिकांश तो इस विषय में भारतीय सरकार को दी गई दरख्वास्तों में भी शरीक थे। खैर; जो होना था सो हो चुका, पर जो जहाज इन मजदूरों को ले गया वही सत्याग्रह के महान् वृक्ष के बीज भी साथ ही ले गया। मजदूरों को नेटाल-स्थित यहां के भारतीय दलालोंने किस तरह धोखा दिया, बेचारे यह लोग किस तरह उनके जाल में आये, नेटाल पहुंचने पर उनकी आंखें किस तरह खुलीं, आखें खुलकर भी वे नेटाल में क्यों रहे, किस तरह और भी मजदूर उनके पीछे पीछे वहां गये; वहां जाकर उन सबने किस प्रकार धर्म और नीति के बंधनों को तोड डाला या वे ही टूट गये, किस प्रकार विवाहित स्त्री और वेश्या के बीच का भेद भी न रहा, इसकी रामकहानी तो इस छोटीसी पुस्तक में कैसे लिखी जा सकती है?

नेटाल जाते वे मजदूर एग्रीमेंट में आये हुए मजदूर के नाम से जाने जाते हैं। अतः वे अपने को गिरमिटिया कहते हैं। इसलिए अब हम भी एग्रीमेन्ट को गिरमिट और उसमें बंधे हुए मजदूर को गिरमिटिया कहेंगे।

जब यह खबर कि नेटाल में गिरमिटिया लोग गये हैं मोरीशस में पहुंची तब इसके मजदूरों के साथ संबंध रखने वाले वहां के कितने ही भारतीय व्यापारियों का दिल नेटाल जाने के लिए ललचाया, मोरीशस, नेटाल और भारत के बीच में है। मोरीशस टापू में हजारों भारतीय-मजदूर और व्यापारी रहते हैं।

उनमें से एक व्यापारी स्वर्गीय अबूबकर आमद ने नेटालमें एक दूकान खोलने तक का निश्चय भी किया। इस समय नेटाल के अंगरेजों तक को न तो यह सुध ही थी, न परवा ही थी, कि भारतीय व्यापारी क्या क्या कर सकते हैं। वे गिरमिटियाओं की सहायता से गन्ना, चाय, काफी, आदि की खेती करके बहुत फायदा उठा रहे थे। गन्ने से शक्कर बनाकर वे इतने थोडे समय में वहां की आवश्यकताओं को पूरा करने लग गए कि दक्षिण-अफ्रिका में सबको आश्चर्य हुआ। अपने मुनाफे की रकम से उन्हें बडे बडे महल बनाए और 'जंगल में मंगल' कर दिया। ऐसे समय यदि सेठ अबूबकर जैसा चतुर व्यापारी उनके बीच में आ बसे तो उन्हें वह क्यों न खुटके? फिर इन में तो एक अंगरेज भी आ मिला। अबूबकर सेठ ने अपना व्यापार फैलाया, जमीन खरीदी। उनकी जन्मभूमि पोरबंदर और उसके आसपास के गांवों तक यह बात फैल गई कि सेठ साहब आज कल खूब मुनाफा कमा रहे हैं। शीघ्र ही दूसरे मेमन नेटाल पहुंचे। उनके पीछे पीछे सूरत के बहोरा भी चले। बहोराओं के साथ साथ महेता लोग (मुनीम) लोग तो अवश्य होने चाहिए। अतः गुजरात-काठियावाड के हिन्दू महेता भी गये।

इस तरह नेटाल में अब दो श्रेणी के भारतीय हो गए—(१) स्वतन्त्र व्यापारी और उनका स्वतन्त्र अनुचर-समुदाय, और (२) गिरमिटिया। धीरे धीरे गिरमिटियाओं के बाल बच्चे हुए। यद्यपि कानून के अनुसार उनकी संतान मजदूरी करने के लिए बंधी हुई न थी, तथापि इसपर कानून की कितनी ही कठोर धाराओं का अंकुश तो अवश्य था। गुलाम की सन्तति गुलामी के लांछन से कैसे मुक्त रह सकती है? गिरमिटिया यहांसे पांच साल के इकरार पर जाते थे।

पांच साल के वाद वे मजदूरी करने पर बाध्य न थे। स्वतन्त्ररूप से मजदूरी अथवा व्यापार कर के नेटाल के स्थायी निवासी होने का उन्हें हक था। कितनों ही ने इस हक का उपयोग किया और अन्य कितने ही फिर भारत को लौट आये। जो नेटाल में ही रहे वे "फ्री इण्डियन्स" कहाने लगे। उन्हें हम 'गिरमिट–मुक्त' अथवा संक्षेप में 'मुक्त भारतीय' कहेंगे। यह भेद समझ लेना जरूरी है। क्योंकि जो हक ऊपर बताये स्वतंत्र भारतीयों को थे वे इन्हें (मुक्त भारतीयों) को न थे। जैसे यदि उन्हें एक गांव से दूसरे गांव जाना हो तो इसके लिए उन्हें लेसेन्स लेना जरूरी था। यदि वे विवाह करना चाहें और यह इच्छा हो कि वह कानून के द्वारा मंजूर किया जाय तो ऐसा कराने के लिए उन्हें गिरिमिटियाओं की रक्षा के लिए नियत अधिकारी के दफ्तर में उसे दर्ज करा देना चाहिए, आदि। इसके अतिरिक्त और भी कितनी ही कठोर धाराओं का अंकुश उनपर था। ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में १८८०–९० में बोअर लोगों के प्रजासत्ताक राज्य थे। प्रजासत्ताक राज्य का अर्थ भी यहां स्पष्ट कर देना जरूरी है। प्रजासत्ताक यानी गोरासत्ताक। उसमें हबशी लोगों के लिए कहीं स्थान न था। भारतीय व्यापारियों ने देखा कि हम केवल गिरमिटिया और मुक्त भारतीयों के साथ ही नहीं बल्कि हबशियों के साथ भी व्यापार कर सकते हैं। हबशियों के लिए भारतीय व्यापारी तो बडे काम की चीज साबित हुआ। गोरे व्यापारियों से वे बहुत डरते थे। गोरे व्यापारी उनके साथ व्यापार करना चाहते तो जरूर थे, पर हबशी ग्राहक कभी यह आशा नहीं रख सकता था कि गोरा उन्हें मीठी जबान से पुकारेगा। अगर गोरा व्यापारी उसे पैसे का पूरा माल देता तो वह अपने अहो भाग्य

समझता । कभी कभी तो यहां तक कडुआ अनुभव हुआ है कि यदि उसे चार शिंलिंग की कोई चीज खरीदना हो और वह दूकानदार के सामने एक पाउण्ड रख दे तो उसे १६ शिलिंग के बदले चार शिंलिंग वापिस मिले, अथवा कुछ भी न मिले । यदि बेचारा अधिक मांगता है, तो उसके हिसाब की गलती दिखाता हैं सो इसके बदले में उसे सीधी सीधी गालियां सुननी पडती । इतने पर ही छूट जाय तो भी गनीमत, नहीं तो गालियों के साथ घूंसा लात भी खानी पडती । इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि सभी अंगरेज व्यापारी ऐसे होते हैं । पर यह तो जरूर कहा जा सकता है कि ऐसे उदाहरण काफी तादाद में मिल सकते हैं । इसके विपरीत भारतीय व्यापारी अपने हबशी ग्राहकों को मीठी जवान से पुकारता है ! हंसकर बात करता है । हबशी भोलेभाले होते हैं । वे दूकान के अन्दर आकर चीजों को हाथ लगाते हैं या उनमें हाथ डाल कर देखते हैं तो वह यह सब सह लेता है । माना कि यह परमार्थ की दृष्टि से नहीं करता, उसमें उसका स्वार्थ तो रहता ही है, और मोका पाते ही उन्हें वह ठग भी लेता है पर हबशी लोग भारतीय व्यापारियों को जो पसंद करते हैं इसका कारण है उनकी मीठी वाणी । फिर भारतीय व्यापारिओं से हबशी डरेगा तो कभी नहीं । इसके विपरीत ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जहां यदि किसी भारतीय व्यापारी ने किसी हबशी को ठगने का प्रयत्न किया हो और वह उसके ध्यान में आ गया हो तो वह व्यापारी उसके हाथ पीटा भी गया है। गालियां वह कई बार खाता है । अर्थात् भारतीय और हबशियों के बीच डरने वाला भारतीय होता है । खैर आखिर नतीजा यह निकला है कि भारतीय व्यापारीयों को हबशी ग्राहकों से बडा लाभ हुआ । हबशी तो दक्षिणी अफ्रिका भर

में फैले हुए थे । भारतीयों ने सुना कि ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में बोअर लोगों में भी उनका व्यापार फैल सकता है। बोअर लोग सीधे-सादे, भोले-भाले और आडम्बर-हीन होते हैं । वे भारतीयों के ग्राहक बनने में शरमाऐंगे नहीं । अतः कितने ही व्यापारियों ने ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में कूच किया। वहां दूकानें खोलीं। इस समय वहां रेल नहीं थी। इससे वे खूब नफा कमाते थे। व्यापारियों का खयाल ठीक साबित हुआ । उन्हें बोअर तथा हबशी ग्राहक खूब मिलने लगे । अब रहा कैप कालोनी । वहां भी कितने ही भारतीय व्यापारी जा पहुंचे और खूब धन कमाने लगे । इस प्रकार धीरे धीरे चारों राज्यों में भारतीय जनता फैल गई। इस समय स्वतंत्र भारतीयों की संख्या चालीस पचास हजार और मुक्त भारतीयों की संख्या लगभग एक लाख की आंकी जाती है । यह लिखते समय इस संख्या में कुछ घटी ही हुई होगी, बढती नहीं।

अध्याय ४

मुसीबतों का सिंहावलोकन (नेटाल)

नेटाल के गोरे मालिकों को निरे गुलामों की जरूरत थी। ऐसे मजदूरों को वे नहीं चाहते थे जो नौकरी के बाद स्वतंत्र हो कर कुछ अंशों में भी उनके साथी प्रतिस्पर्धा करने को तैयार हो जायं। ये भारत से ऐसे ही लोग गिरमिटिया बन कर आफ्रिका गये थे जो सकल किसान न थे। किन्तु वे ऐसे अनजान भी न थे कि उन्हें खेती का कुछ ज्ञान ही न हो या जमीन और खेती की कीमत ही न समझते हों। उन्होंने देखा कि यदि हम नेटाल में साग-तरकारी की भी खेती करें तो भी बडी आसानी से अपना पेट भर सकते है। और अगर हमें जमीन का छोटा सा टुकडा भी मिल जाय तों हम और भी अधिक धन कमा सकेंगे। अतः जब बहुत से गिरमिटिया मुक्त हुए तब उन्होंने एक न एक छोटासा धंधा शुरु कर दिया। कुल मिला कर देखा जाय तो इस सें नेटाल जैसे देश में जनता को फायदा ही हुआ। ऐसी अनेक प्रकार की तरकारियां वहां पैदा होने लग गईं जो अच्छे किसानों के अभाव के कारण अब तक वहां पैदा न होती थीं।

जहाँ कहीं ये चीजें क्वचित् प्रसंगवश मिलती भी थीं वहां अब काफी तादाद में और अच्छी मिलने लग गईं । इस से साग-तरकारीं के भाव एकदम गिर गये। पर धनिक गोरों को यह बात अच्छी न मालूम हुई । उन्होंने सोचा कि आज तक जिस बात का ठीका हमारे पास था अब उसमें नये हिस्सेदार पैदा हो रहे हैं । अतः इन बेचारे गिरमिटियाओं के खिलाफ वहां एक हलचल ही खड़ी हो गई । पाठकों को आश्चर्य होगा कि एक और तो वे अधिकाधिक मजदूर मांगते जा रहे थे—भारत से जितने मजदूर आते वे एकदम बंट जाते । और दूसरी ओर जो गिरमिट से मुक्त होते जाते थे उन पर अनेक प्रकार के अंकुश रखने के लिए आन्दोलन हो रहे थे । यही बेचारे गिरमिटियाओं की होशियारी और कड़ी मिहनत का बदला !

आन्दोलन ने अनेक-रूप धारण किये। एक पक्ष का यह कहना था कि गिरमिट-मुक्त भारतीयों को भारत लौटा दिया जायं और नये मजदूर-गिरमिटिये बुलाये जायं और उनसे यह इकरार करा लिया जाय कि गिरमिट की मीयाद खतम होने पर वे या तो फिर भारत लौट जायं या वहीं पर अपने को फिर गिरमिट में बांध लें । दूसरा पक्ष कहता कि यदि वे गिरमिट मुक्त होने के बाद फिर से अपने को गिरमिट में न बांध लें तो उनसे भारी वार्षिक मनुष्य-कर लिया जाय । पर इन दोनों पक्षों का उद्देश तो एक ही—यही था कि किसी भी सूरत से गिरमिटिया नेटाल में कभी स्वतंत्रता-पूर्वक न रह सकें । आखिर यहां तक कोलाहल मचा कि नेटाल की सरकार को एक कमीशन नियुक्त करना पड़ा । दोनों पक्षों की मांगें अन्याय-मूलक थीं और गिरमिटियाओं की स्वाधीनता आर्थिक दृष्टि से वहां की सारी जनता के लिए लाभ-

दायक ही थीं। अतः कमीशन के पास जो सबूत इकट्ठा हुआ वह इन दोनों पक्षों के खिलाफ था। फलतः तात्कालिक परिणाम तो विरुद्ध पक्ष की दृष्टि से कुछ भी न निकला। पर अग्नि प्रशान्त होने पर भी अपनी कुछ न कुछ निशानी तो छोड ही जाता है, उसी प्रकार इस आन्दोलन ने भी नेटाल सरकार पर कुछ न कुछ असर जरूर डाला। और यह स्वाभाविक भी था। नेटाल की सरकार थी धनिकवर्ग की हिमायती। भारत-सरकार के साथ पत्र-व्यवहार शुरू हुआ, और दोनों पक्षों की सूचनायें वहां पहुंचीं। पर भारत-सरकार भी सहसा ऐसी सूचनाओं को कैसे कबूल कर सकती थी, जिनके कारण गिरमिटियाओं को आजन्म गुलामी में रहना पडे? भारतीयों को गिरमिट में बांध कर इतनी दूर भेजने का एक कारण या बहाना यह था कि वे गिरमिट की मीयाद खतम होने पर स्वतंत्र हो कर अपनी शक्तियों को बढा कर तदनुसार अपनी आर्थिक दशा सुधार लें। इस समय नेटाल क्राऊन कालोनी था। अतः कालोनियल आफिस क्राऊन कालोनी के कार्यों के लिए जिम्मेवार माना जाता था, जिससे नेटाल को अपनी अन्यायपूर्ण इच्छा पूरी करने में उससे कोई सहायता न मिल सकती थी। इस तथा ऐसे ही अन्य कारणों को लेकर अब नेटाल में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन-व्यवस्था की स्थापना के लिए आन्दोलन खडा हुआ। और उसे यह सत्ता १८९३-९४ में प्राप्त भी हो गई। अब उसे जोर आया। अब कालोनियल आफिस को भी नेटाल की मनमानी मांगें स्वीकार करने में कोई कठिनाई न मालूम होती थी। नेटाल की इस नवीन सरकार इस उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-द्वारा भारत सरकार के पास उस विषयपर बातचीत करने के लिए राजदूत भेजे गये। उन्होंने यह चाहा कि प्रत्येक मुक्त

भारतीय पर २५ पौंड अर्थात् ३७५ रुपये वार्षिक कर रक्खा जाय। इसका तो यही मतलब था कि न कोई भारतीय मजदूर इतना भारी कर दे सके और न वह कभी नेटाल में स्वतंत्र हो पावे। उस समय लार्ड हार्डिंग भारत के बडे लाट थे। उन्हें यह कर बहुत भारी मालूम हुआ। आखिर उन्होंने यह कुबूल किया कि मुक्त भारतीय ३ पौंड वार्षिक मनुष्य-कर देंगे। यह मनुष्य कर न केवल मजदूर को ही बल्कि उसकी स्त्री और बारह साल के ऊमर वाली लडकी और सोल वर्ष से अधिक उम्र वाले लडके को भी देना पडता था। शायद ही कोई ऐसा मजदूर होगा जिसे एक स्त्री ओर दो लडके न होंगे। अतः आम तौर पर हर मजदूर पर प्रतिवर्ष १२ पौंड केवल वार्षिक कर देने का भार पडता था। इस बात का पूरा पूरा वर्णन ही नहीं हो सकता कि यह कर कितना कष्टदायी साबित हुआ। केवल अनुभवी जन ही उस दुःख को जानते हैं अथवा कुछ कुछ कल्पना उसे हो सकती है जिसने इन पीडितों को स्वयं देखा हो। नेटाल सरकार की इस करतूत के खिलाफ भारतीय जनता ने खूब झगडा किया था। बडी (ब्रिटिश) सरकार और भारत सरकार को अर्जियां भेजी गईं। पर इसका परिणाम पचीस के तीन पौंड होने के अतिरिक्त कुछ भी न निकला। स्वयं गिरमिटिया तो इस विषय में क्या कर सकते थे? वे जानते भी क्या थे? आन्दोलन तो केवल व्यापारीवर्ग ने देशभक्ति की दृष्टि से कहिए अथवा परमार्थ की दृष्टि से कहिए, चलाया था।

जो हाल गिरमिटियाओं का हुआ वही स्वतंत्र भारतीयों का भी। नेटाल के गोरे व्यापारियोंने उनके खिलाफ भी खास कर इन्हीं कारणों को लेकर एक आन्दोलन शुरू किया। भारतीय व्यापारी

अच्छे जम गये थे। उन्होंने अच्छे अच्छे स्थानों पर जमीनें खरीद की थीं। ज्यों ज्यों मुक्त भारतीयों की बस्ती बढती गई त्यों त्यों उनकी आवश्यक वस्तुओं की विक्री भी बढने लगी। भारत से चावल के हजारों बोरे आने लगे और उनमें खूब नफा मिलने लगा। यह व्यापार खास कर और स्वाभाविकतया भारतीय व्यापारियों के ही हाथों में था। हबशियों में भी उनका व्यापार चल निकला। यह बात छोटे गोरे व्यापारियों से न देखी गई। फिर इन भारतीय व्यापारियों को किसी अंगरेज ने यह भी कह दिया कि उन्हें भी कानून के अनुसार नेटाल की धारासभा के सदस्य होने का तथा अपनी ओर से सदस्य चुनने का अधिकार है। कितने ही नाम मतदाताओं में लिखे गये। नेटाल के राजनैतिक गोरे इस बात को सहन न कर सके। क्यों कि गोरों को यह एक भारी चिंता हो गई कि यदि इस तरह नेटाल में भारतीयों के पैर जम गये, उनकी प्रतिष्ठा बढ गई, तो उनकी प्रतिस्पर्धा में हम कैसे टिक सकेंगे। अत :उस उत्तरदायी सरकार के लिए सबसे आवश्यक बात यह हो गई कि वह एक ऐसा कानून बनावे जिससे अब आगे एक भी नवीन भारतीय मतदाता न बढने पावे। १८९४ ई० में इस विषय का पहला बिल नेटाल की धारासभा में उपस्थित किया गया। इस बिल का यह आशय था कि भारतीय भारतीयों की हैसियत से अपना मत देने से रोके जायं। नेटाल में रंगभेद के आधार पर भारतीयों के विषय में बनाया गया यह पहला ही कानून था। भारतीय जनता चौंक कर खडी हुई। एक रात के अंदर एक दरख्वास्त बनाई गई। चारसों भारतीयों के हस्ताक्षर उसपर हुए। यह दरखास्त पहुंचते ही धारासभा के कान खडे हुए। पर कानून पास हो ही गया। उस समय लार्ड रिपन इन राज्यों के प्रधान

सचिव थे। उनसे दरखास्त की गई। उसपर दस हजार भारतीयों–लगभग नेटाल की सारी स्वतंत्र भारतीय जनता—के हस्ताक्षर थे। लार्ड रिपनने बिल नामंजूर किया और कहा कि ब्रिटिश सल्तनत कानून में रंगभेद को स्थान नहीं दे सकता। पाठकों को आगे चलकर यह अपने आप मालूम हो जायगा कि यह जीत कितने महत्त्व की थी। नेटालकी सरकारने इसके उत्तर में एक नया बिल उपस्थित किया। इसमें रंगभेद न था किन्तु अप्रत्यक्ष–रूपसे हमला था भारतीयों पर ही। भारतीयोंने इसका विरोध भी जोरोंसे किया; पर अबकी बार वे निष्फल हुए। इस कानून के दो मानी होते थे। उसका स्पष्ट अर्थ कराने के लिए यदि भारतीय चाहते तो आखिरी अदालत अर्थात् ठेठ प्रिवी काउन्सल तक लड सकते थे। पर लडना उचित न समझा और अबतक भी मुझे तो यही मालूम होता है कि न झगडना ही उचित था। असली बात कुबूल कर ली गई, यही बडा अनुग्रह हुआ। पर नेटाल के गोरों को अथवा वहांकी सरकार को इतने पर ही संतोष न हुआ। भारतीयों की बढती हुई राजनैतिक सत्ता को तो वे रोकना चाहते ही थे, पर वास्तव में देखा जाय तो उनकी दृष्टि भारतीयों के व्यापार पर और स्वतंत्र भारतीयों के आगमन पर थी। वे इस खयालसे बेचेन हो रहे थे, कि यदि तीस करोड जनसंख्यावाला भारतवर्ष नेटाल की तरफ उलटा तो वहांके गोरोंका क्या हाल होगा। बेचारे वे तो समुद्रमें ही बह जायंगे। नेटाल में चार लाख हबशी और चालीस हजार गोरे, ६० हजार गिरमिटिया (उस समय) और १० हजार मुक्त भारतीय तथा १० हजार स्वतंत्र भारतीय थे। यों तो गोरों को डरने का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कारण न था। पर डरे हुए आदमी दलीलों और मिसालों से नहीं समझ सकते। भारत

की दीन-हीन अवस्थाका तथा यहांकी रीति-नीतियों का उन्हें जरा भी ज्ञान न था। अतः उनके दिलमें यह एक खयाल घुस बैठा था कि जैसे साहसी और शक्तिमान् वे खुद हैं वैसे ही भारतीय भी होंगे। अतः उन्होंने त्रैराशिक के हिसाबसे भारतीयों की शक्ति का अनुमान कर लिया। पर इसमें उनका कौन दोष है? जो हो; पर आखिर यह नतीजा निकला कि नेटालकी धारासभाने दो कानून और बना लिए। उसमें भी, मतविषयक लडाई में जीत मिलने के कारण, रंगभेद को दूर ही रखना पडा। अतः गर्भित भाषा से काम चलाना पडा। और उसी के बदौलत स्थिति में अन्तर न पडा। भारतीय जनता इस बार भी खूब झूझी; पर कानून तो यथाविधि स्वीकृत हो ही गया। एक के द्वारा भारतीयों के व्यापार पर और दूसरे के द्वारा भारतीयों के आगमन पर कठोर अंकुश रख दिया गया। पहले कानून का आशय था कि कानून के द्वारा नियुक्त अधिकारी की आज्ञा के विना किसी को व्यापार का लेसेंस न दिया जाय। व्यवहार में जो गोरा चाहे जा कर व्यापार का लेसेंस आसानीसे ला सकता था। पर यदि कोई भारतीय लेसेंस के लिए प्रार्थना करता तो उसे महान् कष्टों के बाद कहीं मिलता। बेचारे को वकीलोंका खर्च भी देना पडता। दूसरे कानून का आशय यह था कि ऐसा कोई भी भारतीय नेटाल में प्रवेश कर सकता है जो यूरोप के किसी भी एक भाषाभाषियों में शामेल हो सकता हो। फलतः करोडों भारतीयों के लिए तो नेटाल के द्वार बिलकुल बंद हो गये। शायद मुझसे जान या अनजान में नेटाल के साथ कोई अन्याय न होने पावें इस लिए यहां पर यह कह देना जरूरी है कि यह कानून बनने के पहले यहां का नागरिक बना हुआ भारतीय यदि भारत अथवा अन्य किसी देश में जा

कर फिर लौट कर आवे तो वह अपनी परनी स्त्री और नाबालिग बालक सहित यूरोप की भाषा बिना ही जाने नेटाल में प्रवेश पा सकता था। इसके अतिरिक्त नेटाल में गिरमिटिया और स्वतंत्र भारतीयों पर कानून की कितनी ही अन्य आपत्तियां थीं और अब तक हैं। पर मैं पाठकों को इन तफसीली बातों में नहीं ले जाना चाहता। इस पुस्तक का विषय समझने के लिए जिन बातों के समझ लेनेकी आवश्यकता है उन्हीं के लिखने का निश्चय है। पाठक यह जान सकते है कि दक्षिण आफ्रिका के राज्य में रहनेवाले भारतीयों का इतिहास बहुत बडा होगा। पर मेरा हेतु यहां यह नहीं कि उस सबका वर्णन करुं।

अध्याय ५

मुसीबतों का सिंहावलोकन

(ट्रान्सवाल और अन्य राज्य)

नेटाल की तरह न्यूनाधिक परिमाण में दक्षिण आफ्रिका के अन्य राज्यों में भी भारतीयों के प्रति सन १८८० से ही द्वेषभाव फैल रहे थे। केप कालोनी को छोडकर अन्य तमाम राज्य यही समझते थे कि भारतीय लोग मजदूर की हैसियत से तो अच्छे उपयोगी मनुष्य हैं। अनेक गोरों के दिल में यह बात सूत्ररूप से ठंस गई थी कि स्वतंत्र नागरिकों की हैसियत से तो उनको सिवा नुकसान के और कुछ नहीं। ट्रान्सवाल तो प्रजासत्ताक राज्य था। वहां के प्रेसिडेन्ट (अध्यक्ष) के सामने भारतीयों का यह कहना कि हम ब्रिटिश प्रजा हैं मानों अपनी हंसी करा लेना था। भारतीयों को जो कुछ शिकायत करनी हो, वे केवल अंगरेज राजदूत से कर सकते हैं। पर इतने पर आश्चर्य की बात यह थी कि जब ट्रान्सवाल स्वतंत्र था तब अंगरेजी राजदूत भारतीयों की जो सहायता कर सकता था वही सहायता ट्रान्सवाल अंगरेजी साम्राज्य के अंतर्गत होने पर उससे न हो सकती थी। जब लार्ड

मोर्ले भारत-सचिव थे तब ट्रान्सवाल के भारतीयों की ओर से उनके पास एक शिष्ट-मंडल गया था। उन्होंने साफ साफ कहा था कि उत्तरदायी शासन संस्थाओं पर बडी (साम्राज्य) सरकार बहुत कम अंकुश रखती है। स्वतंत्र राज्यों को हम लडाई का डर भी दिखा सकते हैं पर साम्राज्यांतर्गत उत्तरदायी शासन-व्यवस्था रखनेवाले राज्यों से तो केवल सिफारिश भर कर सकते हैं। वे और हम कच्चे सूत से बंधे हुए ह। जरा अधिक तानने लगें कि टूटा। बल से तो काम लिया ही नहीं जा सकता। विश्वास रखिए कि, जहां तक युक्ति से काम लिया जा सकता है तहां तक मैं अपनी शक्तिभर प्रयत्न करूंगा। तब लार्ड लन्सडाऊन और लार्ड सेलबर्न आदि अंगरेजी अधिकारियों ने कहा था कि ट्रान्सवाल के साथ जो युद्ध निर्घोषित करना पडा उसके अनेक कारणों में एक वहां के भारतीयों की दुःखद अवस्था भी थी।

आइए, अब हम इन दुःखों की जांच करें। ट्रान्सवाल में पहले पहल भारतीय १८८१ में दाखिल हुए। स्वर्गीय सेठ अबूबकर ने ट्रान्सवाल की प्रधान नगरी प्रिटोरिया में अपनी दूकान खोली और उसके एक मुख्य मुहल्ले में जमीन भी खरीद ली। अन्य व्यापारी भी एक के बाद एक वहां पहुंचे। उनका व्यापार वहां खूब चल निकला। स्वभावतः गोरे व्यापारियों के दिल में इनके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हुई। समाचारपत्रों में भारतीयों के खिलाफ लेख लिखे जाने लगे। भारतीयों को निकाल देने और उनका व्यापार बंद करने के लिए धारासभाओं में दरख्वास्तें आने लगीं। इससे नये प्रदेश में गोरों की धनतृष्णा बेहद बढी। नीति-अनीति का खयाल उनके पास न रहा। धारासभाओं में उन्होंने जो दरख्वास्तें भेजी थीं उनमें ऐसे ऐसे वाक्य हैं: "ये लोग (भारतीय व्यापारी) यहां

नहीं जानते कि मानवी सभ्यता क्या चीज है । खराब आदतों के कारण होनेवाले रोगों से वे सड रहे हैं। औरत को अपना शिकार, और उन्हें आत्माहीन मानते हैं। '' इन चार वाक्यों में चार सरासर झूठे आक्षेप भी हैं। यों तो और भी कितनी ही असत्य बातें लिखी जाती हैं। जैसी जनता वैसे ही उसके प्रतिनिधि । हमारे व्यापारियों को इस बात का कैसे खयाल हो सकता है कि उनके खिलाफ ऐसे ऐसे बेहूदे तथा अन्याय भरे आन्दोलन किये जा रहे हैं? वे तो समाचार-पत्र भी नहीं पढते थे। समाचार-पत्रों तथा दरख्वास्तों के द्वारा चलायी गई इस हलचल का प्रभाव धारा-सभा पर भी अवश्य ही पडा और उसमें एक बिल पेश किया गया। यह खबर भारतीय नेताओं के पास पहुंची और वे चौंके। वे प्रेसिडेन्ट क्रूगर के पास गये। स्वर्गीय प्रेसिडेन्ट साहब ने तो उन्हें घर में भी न आने दिया। उन्हें घर के बाहर ही खडे कर के उनकी बात कुछ कुछ सुनी और कहा:—आप तो इस्माइल की औलाद है। अतः आप ईसो की औलाद की गुलामी करने ही के लिए पैदा हुए हैं। हम ईसो की औलाद हैं। हमारी बराबरी में आपको कैसे हक मिल सकते हैं? हम जो कुछ दें उसीमें आपको संतोष मानकर रहना चाहिए। हम यह नहीं कह सकते कि इसमें जरा भी द्वेष या रोष था। प्रेसिडेन्ट साहब को शिक्षा ही ऐसी मिली थी। बचपन ही से बाईबल के पुराने इकरार में बताई बातें उन्हें पढाई गई थीं। और उनमें उनका विश्वास बैठ गया था। और यदि कोई मनुष्य जिस बात को वह मानता हो उसे वैसा ही शुद्ध हृदय से स्पष्ट शब्दों में कहे तो इसमें उसका कौन दोष है? पर फिर भी इस निर्दोष अज्ञान का भी खराब असर तो होता ही है। नतीजा यह हुआ कि १८८३ ईसवी में एक बडा ही सख्त

कानून जल्दी जल्दी में स्वीकृत कर लिया गया। मानों हजारों भारतीय ट्रान्सवाल को लूटने ही के लिए तैयार बैठे हों! ब्रिटिश राजदूत को भारतीय नेताओं की प्रेरणा से इस कानून के खिलाफ खडा होना पडा। मामला राज्यों के प्रधान सचिव तक पहुंचा। कानून का आशय था कि प्रत्येक आगन्तुक भारतीय से २५ पौंड प्रवेश कर लिया जाय। उसे एक इंच भर जमीन भी ट्रान्सवाल में न दी जाय, न वह धारासभा का मतदाता हो सकता है। यह कानून इतना अनुचित था कि ट्रान्सवाल सरकार को उसके समर्थन के लिए कोई दलीलें सोचे नहीं सूझती थीं। ट्रान्सवाल सरकार और बडी सरकार के बीच एक सुलहनामा था, जिसका नाम था "लंदन कन्वेन्शन" उसमें अंगरेजी प्रजा के स्वत्वों की रक्षात्मक एक धारा भी थीं। इस धारा के अनुसार बडी सरकार ने उस अन्यायपूर्ण विधान का विरोध किया। ट्रान्सवाल सरकार ने कहा कि इस विधान की रचना में स्वयं बडी सरकार की ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से सम्मति मिल चुकी थी।

इस प्रकार दोनों में मतभेद होने के कारण मामला पंचों के पास गया। पर पंचों का फैसला निकला पंगु। उसने दोनों पक्षों को प्रसन्न करने की कोशिश की। परिणाम यह हुआ कि इस बार भी भारतीयों की ही हानि हुई। ज्यादह नहीं, कम हानि हुई। पंचों के फैसले के अनुसार १८८७ में कानून में संशोधन हुआ। रियायत इतनी मिली कि २५ पौण्ड के बदले आगन्तुक भारतीयों पर प्रवेश कर ३ पाण्ड रक्खा जाय। 'इंच भर जमीन भी न दी जाय' इसके बदले यह तय हुआ कि ट्रान्सवाल की सरकार जहां बतावे वहां उन्हें जमीनें भी मिल सकती हैं। इस धारा को व्यवहार में लाने से भी ट्रान्सवाल

सरकार ने जी चुराया। उसने ऐसे जरखरीद जमीन लेने के हक तो दिये ही नहीं। उन्होंने उन शहरों में जहां भारतीयों की बस्ती थी, उन्हें शहर से बहुत दूर ऐसी जगह जमीनें दीं जो गंदी से गंदी थीं। पानी और प्रकाश का प्रबंध भी बिलकुल खराब, टट्टियां साफ करने का इन्तजाम भी वैसा ही खराब था। अर्थात् हम ट्रान्सवाल की "पंचम" जाति बन गये। इसीसे यह कहा जा सकता है कि भारत के अंत्यजों के मुहल्ले और ट्रान्सवाल के भारतीय-निवासों में कोई अंतर नहीं है। वहां की स्थिति यहां तक बढ गई है कि जैसे यहां पर उच्च हिन्दू अस्पृश्य जाति के मनुष्य के स्पर्श से अपनेको अपवित्र समझता है ठीक उसी प्रकार वहां के गोरे भी भारतीयों के स्पर्श को मानते हैं। फिर ट्रान्सवाल की सरकार ने इस १८८७ के कानून का यह अर्थ किया कि भारतीय व्यापारी व्यापार भी अपने इन्हीं मुहल्लों में कर सकते हैं। ट्रान्सवाल सरकार का ऊपर बताया अर्थ ठीक है या नहीं इस बात पर फैसला देने का अधिकार पंचों ने वहीं की अदालत के अधीन रक्खा। इससे भारतीय व्यापारियों की हालत और भी नाजुक हो गई। इतने पर भी उन्होंने सलाह-मशवरा किया। कहीं कहीं मुकादमे भी चलाये। सिफारिश आदि के द्वारा भी भारतीय व्यापारियों ने अपनी परिस्थिति की रक्षा की। बोअर युद्ध के आरंभ तक ट्रान्सवाल-निवासी भारतीयों की ऐसी दुःखद और अनिश्चित अवस्था थी।

अब हम फ्री-स्टेट को देखें। वहां तो दस पंद्रह दुकानें भी नहीं हो पाई थीं कि वहां के गोरों ने जमीन-आस्मान एक कर दिया। वहां की धारासभा ने दक्षता से काम लिया और मैदान साफ ही कर डाला। एक सख्त कानून बनाया, भारतीयों की

नुकसानी न-कुछ बदला दिया और भारतीय व्यापारियों को फ्री-स्टेट से निकाल बाहर कर दिया। कानून का आशय था कि व्यापारी अथवा किसान की हैसियत से भी भारतीय वहां का स्थायी निवासी नहीं बन सकता। मतदाता तो हो ही नहीं सकता। विशेष आज्ञा प्राप्त करने पर वह मजदूर अथवा होटलों में वेटरों के तौर पर रह सकता है। पर सभी प्रार्थियों को ऐसी आज्ञा मिलती हों सो भी नहीं। हालत यहां तक थी कि कोई प्रतिष्ठित भारतीय फ्री स्टेट में दो चार दिन रहना चाहे तो उसमें भी उसे बडी कठिनाइयां सहनी पडें। बोअर युद्ध के समय वहां चालीस भारतीय गरीब वेटरों के सिवा और कोई नहीं था।

केप कालोनी में यद्यपि भारतीयों के खिलाफ थोडी-बहुत हलचल हुआ करती, पाठशालाओं में भारतीय बालक नहीं लिये जा सकते थे, भारतीय मुसाफिर होटलों में मुश्किल से उतर सकते,—भारतीयों की इस प्रकार अवगणनायें तो वहां भी बहुत हुआ करती थीं तथापि व्यापार-वाणिज्य अथवा जमीन की मालिकी के विषय में कोई प्रतिरोध वहां अधिक समय तक न था।

इसका कारण बता देना जरूरी है। हम यह देख चुके हैं कि एक तो प्रधानतः केप टाऊन में और सामान्यतः केप कालोनी में मलायी लोगों की बस्ती ठीक तादाद में थीं। मलायी लोग मुसलमान थे। अतः भारतीय मुसलमानों से उनका संबंध फौरन् हो गया और उनके साथ साथ कुछ कुछ हिन्दुओं का भी हो ही गया। फिर कितने ही भारतीय मुसलमानों ने वहां की मलायी स्त्रियों के साथ विवाह-संबंध भी कर लिया। केप कालोनी की सरकार मलाइयों के खिलाफ किसी कानून की रचना कैसे कर सकती थी? केप कालोनी तो उनकी जन्मभूमि ठहरी। उनकी भाषा भी डच

थी। डच लोगों के साथ वे पहले से रहे हुए थे। अर्थात् उनकी रहन-सहन भी डच लोगों की सी हो गई थी। इन कारणों से केप कालोनी में रंगद्वेष कम से कम रहा है। फिर केप कालोनी दक्षिण आफ्रिका का प्राचीनतम राज्य और शिक्षा का केन्द्र है इसलिए वहां प्रौढ, विनयी और उदारचेता गोरे भी पदा हुए। मेरा तो खयाल है कि संसार में ऐसा एक भी स्थान और जाति नहीं कि जिससे यथासमय और संस्कृति मिलने पर बढिया से बढिया मनुष्य-पुष्प न पैदा होते हों। दक्षिण-आफ्रिका में सभी स्थानों पर मैं इसके उदाहरण सौभाग्यवश देख चुका हूं। पर केप कालोनी में मुझे इसके उदाहरण अधिक संख्या में मिले। उनमें सबसे अधिक विद्वान् और विख्यात हैं श्री. मेरीमैन। इन्हें लोग दक्षिण आफ्रिका के ग्लैड्स्टन कहते। केप कालोनी में आप अध्यक्ष भी रह चुके हैं। यदि श्री. मेरीमैन के जैसे श्रेष्ठ नहीं तो उनसे दूसरे नंबर में वहां के श्राईनर और मोल्टीनों के परिवार हैं। कानून के विख्यात हिमायती श्री. डब्ल्यू. पी. श्राईनर इसी श्राईनर परिवार में हो गये हैं। केप कालोनी के प्रधान मंडल में भी वे रह चुके ह। उनकी बहन ओलिव श्राईनर दक्षिण आफ्रिका में बडी लोकप्रिय महिला हैं। जहां जहां तक अंगरेजी भाषा बोली जाती ह तहां तहां तक उनका नाम विख्यात है। मनुष्यमात्र पर उनका असीम प्रेम था। जब देखिए तब यही मालूम होता कि उनकी आंखो से अविरल प्रेम की धारा बहा करती है। इसी देवी ने वह "ड्रीम्स" नामक पुस्तक लिखी है। ड्रीम्स की लेखिका के नाम से उनकी कीर्ति चारों ओर तभी से फैली है। उनका स्वभाव इतना सरस और सीधा-सादा था कि इतने बडे खानदान में पैदा होकर तथा इतनी बडी विदुषी होने पर भी घरपर वे अपने बर्तन खुद ही

साफ करती। श्री. मेरीमैन और ये दोनों परिवार हमेशा हबशियों का पक्ष लेते और जब जब उनके स्वत्वों पर आक्रमण होता तब तब उनके लिए वे झगडते। और यद्यपि वे सब भारतीयों और हबशी लोगों को भिन्न भिन्न दृष्टि से देखते तथापि उनकी प्रेम-धारा भारतीयों की ओर भी अवश्य बहती। उनकी दलील यह थी कि हबशी लोग गोरों के पहले से यहां रह रहे हैं और उनकी यह मातृभूमि है। अतः उनका स्वाभाविक अधिकार गोरों से नहीं छीना जा सकता। किन्तु प्रतिस्पर्धा के भय से मुक्त होने के लिए यदि भारतीयों के खिलाफ कुछ कानून बनाये जायं तो वह बिल्कुल अन्याय-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। पर इतने पर भी उनका हृदय तो हमेशा भारतीयों की ओर ही झुकता। स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले जब दक्षिण आफ्रिका पधारे थे तब उनके सन्मानार्थ केप टाऊन के टाऊन हाल में जो सभा निमन्त्रित की गई थी उसके अध्यक्ष श्री श्राईनर ही थे। श्री मेरीमैन ने भी उनसे बडे प्रेम और विनयपूर्वक बातचीत की और भारतीयों के प्रति अपना प्रेम-भाव दर्शाया। केप टाऊन के समाचार-पत्रों में भी पक्षपात की मात्रा इधर-उधर के समाचार पत्रों की अपेक्षा सदा कम रहती।

श्री मेरीमैन के विषय में मैं जो कुछ लिख गया वह अन्य गोरों के विषय में भी कहा जा सकता है। यहां तो बतौर उदाहरण के उपर्युक्त सर्वमान्य नामों का उल्लेख किया है। ऊपर बताये कारणों से केप कालोनी में रंगद्वेष हमेशा बहुत कम परिमाण में रहता। किन्तु यह कैसे हो सकता है कि जो वायु दक्षिण आफ्रिका के उन तीनों राज्यों में बहती उसका असर केप कालोनी में बिल्कुल ही न पहुंचे? इसलिए नेटाल ही की तरह वहां भी भारतीयों के प्रवेश और व्यापार को रोकने के लैसेंस-परवाने देने

के कानून गढे गये। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अबतक जो दक्षिण आफ्रिका का दरवाजा भारतीयों के लिए खुला था सो बोअर-युद्ध के समय तक करीब करीब बिल्कुल बंद हो गया। ट्रान्सवाल में उन तीन पौण्डों के अतिरिक्त कोई रुकावट न थी। किन्तु ट्रान्सवाल केप कालोनी और नेटाल के बीच में हैं। अत: जब नेटाल और केप के बंदरगाह बंद हो गये तब भारतीय प्रवासी कहां उतर सकते थे? एक रास्ता जरूर रहा। और वह था पोर्चुगीज बंदरगाह डेलागोआ बे। पर वहां भी न्यूनाधिक परिमाण में अंगरेजी राज्यों का अनुकरण होने लगा। तथापि यह कह देना आवश्यक है कि इतने पर भी अनेक रहे-सहे भूले भटके भारतीय असीम कठिनाइयों का सामना करते हुए तथा रिशवतें दे दे कर ट्रान्सवाल में अपना प्रवेश कर लिया करते।

अध्याय ६

भारतीयों ने क्या किया ?

भारतीय जनता की स्थिति का विचार करते हुए हम पिछले अध्यायों में कुछ हद तक यह देख चुके हैं कि भारतीयों ने अपनेपर किये गये आक्रमणों को किस तरह झेला। किन्तु सत्याग्रह की पूरी पूरी कल्पना होने के लिए पाठकों को एक आध अध्याय द्वारा यह बता देना जरूरी है कि उनकी सुरक्षितता के लिए और कौन कौन से प्रयत्न किये गये। १८९३ ई० तक दक्षिण-आफ्रिका में ऐसे सुशिक्षित और स्वतंत्र भारतीय बहुत कम थे जो अपने देश-भाइयों के लिए झगड सकें। अंगरेजी पढे लिखों के नाम से अंगरेजी जानने वाले भारतीयों में केवल "महेता" अर्थात् गुमाश्ता वर्ग था। वे तो अपने काम के लायक ही थे। अंगरेजी में दरख्वास्तें वगैरा वे नहीं लिख सकते थे। फिर उनका यह भी कर्त्तव्य था कि अपना सारा समय अपने मालिकों को ही दें। इनके अतिरिक्त एक और भी वर्ग था जो अंगरेजी जानता था—दक्षिण आफ्रिका में ही पैदा हुए भारतीय। अधिकांश म तो ये गिरमिटियाओं की प्रजा थे। उनमें भी अगर किसीने कुछ योग्यता प्राप्त की हो तो वह अदालतों में दु-भाषिये

का काम करके । अतः ऐसे आदमी जबानी हमदर्दी दिखाने के अतिरिक्त अधिक क्या सेवा कर सकते हैं ? फिर गिरमिटिया और मुक्त भारतीय प्रधानतः युक्त प्रान्त और मदरास से आये हुए लोग थे । स्वतंत्र भारतीय थे मुसलमान और उनमें भी अधिकांश व्यापारी और जो हिन्दू थे वे गुमाश्ता लोग थे । यह हम पिछले अध्यायों में देख ही चुके हैं । इसके अतिरिक्त कुछ पारसी व्यापारी और गुमाश्ता भी थे । पर सारे दक्षिण आफ्रिका भर में पारसियों की बस्ती ३०–४० से अधिक न होगी । स्वतंत्र व्यापारियों में एक चौथा विभाग भी था । इनमें सिंध से आये हुए व्यापारी थे । भारत के बाहर वे जहां जहां गये हैं तहां तहां वे एक ही प्रकार का व्यापार करते हैं । वहां वे "फैन्सी गुडस्" के व्यापारी के नाम से जाने जाते हैं । "फैन्सी गुडस्" से मतलब है रेशम जरी आदि का सामान, बम्बई के शीशम, चंदन हाथीदांत आदि की बनी नक्काशीदार संदूकें तथा अनेक प्रकार की शोभा की चीजें । उनके ग्राहक अक्सर गोरे ही होते हैं ।

गिरमिटियाओं को गोरे अक्सर कुली ही कहते हैं । कुली यानी मजदूर । यह नाम वहां पर इतना चल निकला कि स्वयं गिरमिटिया अपने को कुली कहते हुए नहीं शरमाते । बाद यह नाम तमाम भारतीयों तक को वे लगाने लग गये । अर्थात् भारतीय व्यापारी और भारतीय वकील को गोरे क्रमशः कुली व्यापारी और कुली वकील ही कहते । कितने ही गोरों को यह खयाल तक नहीं होता कि इस तरह पुकारने में कोई बुराई है । बल्कि कितने ही तो तिरस्कार प्रदर्शित करने ही के लिए इन शब्दों का प्रयोग करते । फल यह होता कि स्वतंत्र भारतीय अपनेको गिरमिटियाओं से भिन्न जनाने का यत्न करते । इस कारण से तथा जिन कारणों को हम

स्वयं भारत ही से ले जाते हैं उनसे स्वतंत्र भारतीय और गिरमिटिया तथा गिरमिट–मुक्त भारतीयों के बीच दिन ब दिन भेद बढ रहा था ।

दुःख के इस महासागर को बढते हुए रोकने का काम पहले पहल स्वतंत्र भारतीयों ने और खास कर मुसलमान व्यापारियों ने शुरू किया । गिरमिटिया और गिरमिट–मुक्त भारतीय इसमें शामिल नहीं किये गये । न उन्हें इसका खयाल ही रहा होगा । और अगर सूझा भी होता तो उनको शामिल कर लेने से काम सुधरने की अपेक्षा बिगडने ही का अधिक डर था । दूसरे, लोगों ने सोचा कि मुख्य आपत्ति तो स्वतंत्र व्यापारीवर्ग पर ही है । इसीलिए रक्षात्मक आन्दोलन ने इतना संकुचित रूप धारण किया था । इतनी कठिनाइयों के होते हुए, अंगरेजी भाषा के ज्ञान का अभाव होते हुए और सार्वजनिक आन्दोलनों का भारत में अनुभव न होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि यह स्वतंत्र वर्ग अपनी मुसीबतों से खूब झगडा । उन्होंने गोरे वकीलों की सहायता ली, दरख्वास्तें पेश कीं, समय समय पर शिष्ट–मण्डल भी भेजे, और जहां जहां हो सका बलप्रयोग भी किया । १८९३ ई० तक यह हालत थी ।

इस पुस्तक का आशय ठीक ठीक समझने के लिए पाठकों को कुछ कुछ तारीखें याद रखनी होंगी । पुस्तक के अंत में मुख्य घटनाओं का तारीखवार परिशिष्ट दिया गया है । अगर पाठक उसे बार बार देख लिया करेंगे तो उन्हें आन्दोलन का रहस्य और रूप समझने में सहायता होगी । १८९३ ई० तक वहां की परिस्थिति इस प्रकार थी । फ्रीस्टेट से हमारे बोरिये–बंधने बंध चुके थे । ट्रान्सवाल में १८८५ का कानून शुरू था । नेटाल में यह विचार चल रहा था कि किस प्रकार केवल गिरमिटियों को रखकर अन्य

भारतीयों को नेटाल से बाहर निकाला जाय ! और इसीलिए उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-व्यवस्था भी उसने ले रक्खी थी । अप्रैल १८९३ इ० में म भारत से दक्षिण आफ्रिका जाने के लिए रवाना हुआ। मुझे वहां के इतिहास का जरा भी ज्ञान न था । मैं तो केवल स्वार्थ-भाव से गया था। पोरबंदर के मेमनों की दादा अबदुल्ला के नाम की एक प्रख्यात दूकान डर्बन में थी। उतनी ही प्रख्यात एक दूसरी दूकान उनके प्रतिस्पर्धी और पोरबंदर के मेमन तैयब हाजी खानमहम्मद की प्रिटोरिया में थी। दुर्भाग्यवश इन दो प्रतिस्पर्धियों के बीच एक मामला चल रहा था। इस समय दादा अबदुल्ला के एक साझी ने, जो पोरबंदर में थे, सोचा कि मेरे जैसा यदि एक नौसिखिया ही सही किन्तु बैरिस्टर वहां जाय तो उन्हें बहुत फायदा हो। उन्हें यह भय न था कि एक अनजान और मूढ वकील की तरह मैं उनके मामले को बिगाड डालूंगा। क्योंकि मुझे अदालत में जा कर काम नहीं करना था। मुझे तो उनके नियुक्त किये बडे बडे वकील बैरिस्टरों को समझाने का अर्थात् दुभाषिये का काम करने के लिए रक्खा था। मुझे नवीन अनुभवों का बडा शौक है । सफर का भी शौक था। बैरिस्टर की हैसियत से कमीशन देना तो विष के समान था । काठियावाड की बन्दिशों से मेरा चित्त सन्तप्त रहता था । मुझे एक ही साल के लिए जाना था। मैंने सोचा कि उसमें मेरी जरा भी असुविधा नहीं । हानि तो तिलभर भी न थी। क्योंकि मेरे जाने आने का और वहां रहने का खर्च तो दादा अबदुल्ला देने वाले थे और इसके अतिरिक्त १०५ पौंड भी । मेरे स्वर्गीय भ्राता से ये सब बातें हुइ थी। मेरे लिए तो वे पिता के स्थान पर ही थे। उनकी अनुकूलता मेरी अनुकूलता थी । दक्षिण आफ्रिका जाने की बात उन्हें

बहुत पसद हुई, और मैं १८९३ के मई में डर्बन जा पहुंचा।

मैं तो बैरिस्टर ठहरा। फिर क्या पूछना था? जैसा कि मैंने सोच रक्खा था फ्राक-कोट आदि बढिया कपडे डांटकर बडे रौब के साथ मैं जहाज से उतरा। पर उतरते ही मेरी आंखें खुल गई। दादा अबदुल्ला के जिन साझी के साथ मेरी बातचीत हुई थी उन्होंने यहां का जो वर्णन सुनाया था वह तो मुझे सब उलटा ही उलटा दिखाई दिया। पर यह उनका दोष न था। उनका भोलापन, सरलता और परिस्थिति का अज्ञान इसका कारण था। उन्हें उन सब मुसीबतों का खयाल न था, जो नेटाल में भारतीयों पर पडती हैं। साथ ही भारी अपमानभरी बातें उनके दिल को अपमानजनक न मालूम हुई। मैंने तो पहले ही दिन देख लिया कि वहां पर गोरे लोग हमारे साथ बडी बुरी तरह पेश आते हैं।

नेटाल में उतरने पर पंद्रह दिन तक मुझपर जो जो मुसीबतें पडीं—अदालतों में जो कडुआ अनुभव हुआ, रेलों में जो तकलीफें उठाई, रास्तों पर जो पिटाई हुई, होटलों में जो असुविधायें सहीं, लगभग निकाला गया, इन सब का वर्णन मैं नहीं कर सकता। पर इतना जरूर कहूंगा कि ये तमाम अनुभव मेरे रगो-रेशे में पैठ गये। मैं तो केवल एक ही मामले के लिए गया था। और सो भी स्वार्थ और कुतूहल की दृष्टि से। अर्थात् इस वर्ष तो मैं इन दुःखों का केवल साक्षी आर अनुभवी मात्र रह सका। पर मेरे धर्म ने उसी समय से मेरी आंखें खोल दीं। मैंने देखा कि स्वार्थ की दृष्टि से दक्षिण आफ्रिका मेरे लिए एक बेकार देश है। जहां अपमान हो रहा हो वहां धन कमाने अथवा सफर करने का भी लोभ मुझे तिल-मात्र न था। इतना ही नहीं, बल्कि वहां ठहरना

भी मुझे तो असह्य मालूम हो रहा था। मेरे सामने एक धर्म-संकट आकर उपस्थित हुआ। एक तरफ दिल यह कहता कि जिस स्थिति का मुझे खयाल तक न था वह यहां खडी है, यह कह कर दादा अबदुल्ला के इकरार से मुक्ति प्राप्त कर भारत भाग जाऊं; और दूसरी ओर वह यह कह रहा था कि तमाम मुसीबतों का सामना करके अंगीकृत कार्य को पूरा करूं। भीषण जाडा पढ रहा था। मारित्सबर्ग के स्टेशन पर पुलिस के धक्के खाकर आगे जाना मुल्तवी करके मैं वेटिंग रूम में बैठा था। यह खबर भी न थी कि असबाब कहां पडा है, न किसीसे कुछ पूछने की हिम्मत होती थी। डर यह था कि कहीं ऐसा ही अपमान और न हो जाय—पिटना न पडे। इस हालत में मैं मारे जाडे के काँप रहा था। नींद कहां से नसीब हो सकती है? आखिर चित्त जरा स्थिर हुआ। बडी रात को मैं इस निश्चय पर पहुंचा कि अंगीकृत कार्य को अवश्य पूरा करना चाहिए। व्यक्तिगत अपमान सहन करके यदि पिटना पडे तो पिट कर भी प्रिटोरिया जरूर पहुंचना चाहिए। प्रिटोरिया मेरे लिए केन्द्रस्थान था। मामला वहीं चलता था। अपना काम करते हुए अगर कुछ हो सके तो जरूर करना चाहिए। यह निश्चय करने पर मुझे कुछ कुछ शांति प्राप्त हुई। हृदय में कुछ उत्साह भी आया। पर नींद तो जरा भी न पडी।

दिन निकलते ही फौरन् मैंने एक तार तो दादा अबदुल्ला की दूकान को और दूसरा रेल्वे के जनरल मैनेजर को किया। दोनों स्थानों से उत्तर भी आ गये। दादा अबदुल्ला तथा वहां उस समय रहनेवाले उनके साझी सेठ अबदुल्ला हाजी आदम जौहरी ने फौरन् उचित कार्रवाई स्थान स्थान पर रहनेवाले अपने आढतियों को मेरी खबर लेने के लिए तार कर दिये। और तदनुसार मेरित्सबर्ग के

भारतीय व्यापारी लोग मुझे आकर मिले थे। उन्होंने मेरी खूब दिल्जमई करते हुए कहा कि मेरे जैसे कई कडुए अनुभव हम सब को भी हुए हैं। पर हम उनके आदी हो गये हैं। इसलिए उसमें उनको कोई बात विशेष अपमानजनक न मालूम होती थी। व्यापार भी करना और मानापमान का भी विचार करना ये दोनों बातें साथ साथ नहीं हो सकती। अर्थात् धन के साथ साथ अपमान भी हो तो वह उनके लिए एक संग्रहणीय वस्तु थी। उन्होंने मुझे यह भी कहा कि इसी स्टेशन पर भारतीयों को मुख्य दरवाजे से आने की मुमानियत है और उन्हें टिकट वगैरा लेते समय भी खूब तकलीफ होती है। उसी रोज रात की गाडी से मैं रवाना हुआ। मैं अपने निश्चय का पक्का हूं या कच्चा इस बात की परमात्मा ने भी पूरी परीक्षा की। प्रिटोरिया पहुंचने तक मुझे और भी कई बार अपमान सहना पडे और पिटना भी पडा। पर उन सब का मेरे दिल पर ऐसा ही असर हुआ जिससे मेरा निश्चय और भी दृढ होता गया।

इस प्रकार दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की स्थिति का यथावत् ज्ञान अनायास ही हुआ। समय पाकर मैं प्रिटोरिया के भारतीयों से उस विषय में बातचीत करता, उन्हें समझाता। पर इससे ज्यादह मैंने कुछ नहीं किया। मुझे मालूम हुआ कि दादा अबदुल्ला के मामले को चलाना और साथ ही भारतीयों के दुःखों के निवारण की चिंता करना ये दो दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। मैंने देखा कि दोनों को करने जाऊंगा तो दो में से एक काम भी अच्छा न होगा। इस तरह विचार करते करते १८९४ साल लगा। मामला भी खतम हो गया। मैं डर्बन वापिस लौटा। भारत लौटने के लिए तैयारियां कीं। दादा अबदुल्ला ने मेरी रुख्सत के

उपलक्ष्य में एक सभा निमन्त्रित की। वहां किसीने डर्बन का मर्क्यूरी नामक अखबार मेरे हाथों में ला कर रख दिया। उसमें धारासभा की कार्रवाई की रिपोर्ट में 'भारतीयों को मताधिकार-इण्डियन फ्रेंचाइज' आदि शीर्षकों के नीचे मैंने कुछ सतरें पढीं। उसमें मैंने देखा कि भारतीयों के तमाम अधिकार छीनने की यह शुरूवात है। वहांके भाषणों से ही उनका यह उद्देश स्पष्ट मालूम होता था। सभा में आये हुए सेठ-साहूकारों को वह दिखाया और जहांतक मुझसे हो सका उन्हें समझाया। क्योंकि मैं पूरी पूरी कथा तो जानता ही न था मैंने उनसे कहा कि भारतीयों को चाहिए कि इस आक्रमण का यथोचित उत्तर दें। उन्होंने मेरी बात को मंजूर किया। पर साथ ही यह भी कहा कि ऐसे आंदोलन हमसे चलना मुश्किल हैं, और मुझे रह जाने के लिए आग्रह करने लगे। मैंने भी उस लडाई को लड लेने तक अर्थात् एक आध महीना ठहरना मंजूर कर लिया। उसी रात को धारासभा में भेजने के लिए एक दरख्वास्त तैयार की। फौरन् एक कमिटी बना ली गई। कमिटी के अध्यक्ष थे सेठ अबदुल्ला हाजी आदम। उनके नाम से एक तार किया। बिल को दो रोज तक रोक रक्खा। और दक्षिण आफ्रिका की धारासभाओं में से नेटाल की धारासभा में भारतीयों की पहली दरखास्त पहुंची। इसका अच्छा असर पडा लेकिन बिल पास हुआ। इसका जो नतीजा निकला उसे मैं चौथे अध्याय में लिख चुका हूं। इस प्रकार झगडने का वहांपर यह पहला ही मौका था। इसलिए भारतीयों में खूब उत्साह दिखाई दिया। बार बार सभायें होतीं। बडी बडी तादाद में वहां मनुष्य आते। आवश्यकता से अधिक धन इस काम के लिए इकट्ठा हो गया। नकल करने, दस्तखत लेने

आदि कामों में सहायता करने के लिए बहुत से स्वयंसेवक आ जुटे और वे सब बिना ही तनख्वाह अपनी गांठ का खा कर काम करते। मुक्त भारतीयों की प्रजा भी इस काम में उत्साहपूर्वक आ मिली। ये सब अंगरेजी जानने वाले और खुशखत लिखने वाले नौजवान थे। उन्होंने रात दिन एक करके बडे उत्साह के साथ नकलें कर डालीं। एक महीने के अंदर १०००० आदमियों के दस्तखत की दरख्वास्त लार्ड रिपन के पास रवाना की गई और मेरा उस वक्त का काम पूरा हुआ।

मैंने रुख्सत मांगी। पर जनता में अब इतना उत्साह बढ गया था कि वह मुझे जाने के लिए इजाजत ही नहीं देती थी। उसने कहा आप ही तो यह समझाते हैं कि हमें जडमूल से उखाड फेंकने की यह शुरुवात ही है? कौन कह सकता है कि विलायत से हमारी इस दरख्वास्त का क्या उत्तर आवेगा? हमारा उत्साह आप देख चुके हैं। हम लोग काम करने के लिए तैयार हैं —इच्छा भी खूब है। हमारे पास धन की कोई कमी नहीं। पर यदि अगुआ न हो तो यह किया कराया सब चौपट हो जायगा। इसलिए हमारा तो खयाल है कि अब आपका यही धर्म है कि और भी कुछ रोज आप यहीं ठहरें। मुझे भी मालूम हुआ कि यहां पर कोई स्थायी संस्था की स्थापना हो जाय तो बडा अच्छा हो। पर म रहूं कहां और किस तरह? उन्होंने मुझे तनख्वाह लेने के लिए भी कहा पर मैंने इस बात का साफ इन्कार कर दिया। सार्वजनिक काम बडी बडी तनख्वाहे ले कर नहीं हो सकते। फिर मैं तो केवल नींव डालने वाला था। मेरे तत्कालीन विचारों के अनुसार मुझे इस तरह रहना चाहिए था जो मेरी बैरिस्टरी और जाति दोनों को शोभा दे। अर्थात् रहनसहन भी खर्चीली ही थी। जनत

पर दबाव डाल कर धन इकट्ठा करके आन्दोलन को बढाना और उससे जीविका निर्वाह भी करना यह तो दो परस्पर विरोधी वस्तुओं का संगम होता, और इससे मेरी कार्य-शक्ति भी कम हो जाती। और भी अनेक कारणों से मैंने सार्वजनिक सेवा के लिए तनख्वाह लेने से साफ इन्कार कर दिया। पर एक अन्य सूचना मैंने की। मैंने कहा यदि आपमें से खास खास व्यापारी मुझे अपना वकील बना लें और उसके लिए मुझे पहले ही से रेटिनर दे दिया करें तो मैं रहने के लिए तैयार हूं। एक साल का रेटिनर देना होगा। हम लोग एक साल भर तक ऐसा करें, और सब तरह से अनुभव लेलें, साल आखिर अपने काम का हिसाब कर लेंगे। अगर उचित मालूम हुआ तो काम आगे चलावेंगे। सबने इस बात को पसंद किया। मैंने वकालत करने की इजाजत के लिए दरख्वास्त की। वहां की ला सोसाइटी-वकील मंडल-ने मेरी प्रार्थना का बडा विरोध किया। उनकी दलील एक ही थी। नेटाल के कानून की मन्शा के अनुसार काले या गेहुएं लोगों को यहां पर वकालत करने की इजाजत कभी दी ही नहीं जा सकती। वहां के विख्यात वकील स्व० श्री. ऐस्कंब ने वकालत की इजाजत मिलने विषयक मेरी दरख्वास्त की पुष्टि की थी। वे दादा अबदुल्ला के बडे वकील भी थे। बडी अदालत ने वकील मंडल की दलील को रद करके मेरी दरख्वास्त को मंजूर किया। इस प्रकार इच्छा न होते हुए भी वकील-मंडल का विरोध मेरी ख्याति का एक दूसरा कारण हुआ। दक्षिण आफ्रिका के समाचार-पत्रों में से कितनों ही ने तो वकील-मंडल की हंसी उडाई और कितनों ही ने मुझे धन्यवाद दिये।

पहले जो अस्थायी कमिटी बनाई गई थी वही अब स्थायी बना दी गई। मैंने महासभा का एक भी अधिवेशन नहीं देखा

था, किन्तु उसके विषय में कुछ पढ़ा जरूर था। भारत के पितामह के दर्शन भी कर चुका था। उनकी मैं पूजा करता था। सो मैं महासभा का भक्त क्यों न होता? यह भी इच्छा थी कि महासभा को लोकप्रिय बनाया जाय। सो एक नौजवान, नवीन नाम रूप ढूंढने के झगडे में क्यों पडता? इसका भी बडा डर था कि इसमें कहीं भूल हो जाय तो? इसलिए मैंने तो यही सूचना की कि कमिटी का नाम हो "नेटाल इंडियन कांग्रेस"। कांग्रेस का जो कुछ अधूरा ज्ञान मुझे था वह मने लोगों पर प्रकट किया। पर १८९७ के मई या जून में कांग्रेस की स्थापना हुई। भारत की संस्था में और इसमें यही फर्क था कि नेटाल की कांग्रेस हमेशा सम्मिलित हुआ करती। साल में कम से कम जो तीन पौण्ड चन्दा दे सकते थे वही उसके सभासद हो सकते थे। इससे कोई जितना ज्यादह देता वह भी ले लिया जाता। ज्यादह लेने के लिए कौशिश भी खूब की गई। पांच सात सदस्य तो सालाना २४ पौण्ड भी देते थे। सालाना १२ पौण्ड देने वाले तो कितने ही थे। एक महीने के अंदर तीनसौ से अधिक सभासदों के नाम दर्ज हो गये। उसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि जितने धर्म और प्रान्त के लोग थे सभी थे। पहले साल भर काम बडे जोश से चलता रहा। बडे बडे सेठ साहूकार अपनी सवारियों पर बैठ बैठ कर देहात में नवीन सभासद बनाने और चंदा इकट्ठा करने के लिए जाते। लोग मांगते ही चंदा दे देते। समझाने भर की देर थी। इससे जनता को एक प्रकार से राजनैतिक शिक्षा मिलती और वह परिस्थिति से भी परिचित होती रहती। फिर हर महीने में कम से कम एक बार तो कांग्रेस की बैठक जरूर होती। उसमें उस महीने भर का पाई पाई का हिसाब बताया

जाता और वह मंजूर किया जाता था। उस महीने के अंदर जो घटनायें होतीं वे सुनाई-समझाई जातीं और वे कार्रवाई लिख ली जाती। सभासद भिन्न भिन्न सवाल पूछते, नवीन कार्यों पर बिचार होता; यह सब करते समय सभा-समाजों में जो कभी न बोलते थे वे खडे हो कर निर्भयतापूर्वक बोलने लग गये थे। भाषण भी बडी सावधानी से किये जाते। ये सब बातें हमारे लिए नवीन थीं। पर जनता इस में बडी दिलचस्पी लेती थी। इसी बीच यह खबर आ धमकी कि लार्ड रिपन ने नेटाल के बिल को नामंजूर कर दिया । जनता को बडा हर्ष हुआ और उसका आत्मविश्वास भी बढ गया।

जिस प्रकार बाहर काम हो रहा था उसी प्रकार लोगों के अंदर काम करने की हलचल भी शुरू थी । हमारे रहनसहन पर दक्षिण आफ्रिका के तमाम गोरे बडी हल-चल मचाते थे। वे कहते "हिंदुस्तानी लोग बडे गंदे और महा कंजूस हैं। उनके मकान आर दूकान एक ही होते हैं । मकान मानों बिल, अपने सुख के लिए भी कभी पैसा खर्च न करें—ऐसे गंदे और कंजूस लोगों के साथ, साफ-सुथरे, गोरे जिनकी जरूरतें बहुत बढी हुई हैं और जो उदार हैं व्यापार में कैसे प्रतिस्पर्धा कर सकते रहे हैं। यही उनकी हमेशा की दलील । इसलिए महासभा की बैठकों में इस बात पर भी भाषण, सूचनाय और वाद विवाद होते कि भारतीय अपने मकानों को अधिक स्वच्छ रक्खें, घर और मकान अलग अलग कर लें और बडे बडे व्यापारी अपनी आय के अनुसार रहन सहन भी उन्नत बनावें। कांग्रेस की तमाम कार्यवाही मातृभाषा में ही होती थी ।

पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि इसके द्वारा जनता को अनायास कितनी व्यावहारिक शिक्षा आर राजनतिक आन्दोलनों का अनुभव

प्राप्त हो जाता था। कांग्रेस ने अपने ही खर्च से गिरमिट मुक्त भारतीयों की संतान अर्थात् नेटाल में पैदा हुए अंगरेजी भाषा भाषी भारतीय नौजवानों की शिक्षा के लिए एक शिक्षा मंडल भी संगठित किया था। उसमें फीस नाम मात्र के लिए रक्खी गई थी। उद्देश यही था कि इन नौजवानों को एकत्र कर के उनमें भारत के प्रति प्रेम उत्पन्न कर के उसका सामान्य ज्ञान भी कराया जाय। इसके अतिरिक्त और भी हेतु था। एक तो उन्हें यह बताया जाय कि स्वतंत्र भारतीय व्यापारी उन्हें अपने आत्मीय समझते हैं ओर दूसरे, उन व्यापारीयों के हृदयमें भी इनके प्रति आदर उत्पन्न किया जाय। इतना करते हुए भी कांग्रेस के पास खर्च जाते एक बडी भारी रकम इकट्ठी हो गई थी। इस कोष से कांग्रेस के लिए जमीन खरीदी गई, जिसकी आमदनी आज तक आ रही है।

मैंने जानबूझ कर इतनी तफसीली बातें लिखी हैं। ऊपर लिखी बातें बिना पढे पाठक यह नहीं समझ सकते कि किस तरह सत्याग्रह बिलकुल स्वाभाविक रीति से उत्पन्न हुआ। कांग्रेस पर आपत्तियां भी उमडीं। सरकारी अधिकारीयों ने आक्रमण भी किये, पर इन सब विपत्तियों को कांग्रेस ने किस बहादुरी के साथ पार किया। ये सब जानने योग्य बातें मुझे लाचारी के साथ छोडना पड रही हैं। पर एक बात कह देना जरूरी है। जनता अत्युक्ति से हमेशा बचती रहती। उससे अपनी गलतियां छुडवाने के लिए सदा प्रयत्न किया जाता था। गोरों की दलीलों में भी जो बातें सही रहती वे फौरन स्वीकार कर ली जातीं और हरएक अवसर का फायदा उठा लिया जाता जिसमें गोरों के साथ रहकर भी भारतीय अपने स्वाभिमान और स्वाधीनता की रक्षा कर सकते हों। हमारी हलचल

की जो जो बातें वहां के अखबार ले सकते थे वे छपाई जाती थीं। और आक्षेपो के उत्तर भी दिये जाते थे।

जिस प्रकार नेटाल में नेटाल कांग्रेस थी उसी प्रकार ट्रान्सवाल में भी भारतीयों ने हलचल मचा रक्खी थी। ट्रान्सवाल की संस्था नेटाल से बिल्कुल स्वतंत्र थी। उसके संगठन में भी कुछ फर्क था। पर मैं उसके सूक्ष्म भेद यहां देना नहीं चाहता। केप टाउन में भी ऐसी ही एक संस्था थी। उसकी रचना नेटाल और ट्रान्सवाल की सभा से भिन्न थी। पर तीनों का उद्देश लगभग वही था।

१८९४ का वर्ष खतम हुआ। कांग्रेस का साल भी १८९५ के मध्य में समाप्त हो गया। मेरा काम भी मेरे मुवक्किलों को पसंद हुआ। मेरे रहने की मीयाद और बढ गई। १८९६ में मैं लोगों से इजाजत लेकर छः महीने के लिए स्वदेश को लौटा। मैं पूरे छः महीने भी नहीं रह सका। क्योंकि बीच ही में नेटाल से तार आया और मुझे फौरन् लौट जाना पडा। १८९६-९७ का हाल अगले अध्याय में मिलेगा।

प्रकरण ७

भारतीयों ने क्या किया ?

इस प्रकार नेटाल इंडियन कांग्रेस को स्थिरता प्राप्त हुई । मैंने भी नेटाल में लगभग ढाई साल राजनैतिक क्षेत्र में काम किया और बाद सोचा कि यदि मुझे और भी दक्षिण आफ्रिका में रहना आवश्यक हो तो बाल बच्चों को भी यहां ले आना चाहिए । कुछ समय के लिए मातृभूमि में भी हो आने की दिल में आई । और यह भी विचार हुआ कि साथ ही भारत के नेताओं को. नेटाल और दक्षिण आफ्रिका के अन्य प्रान्तों में बसने वाले भारतीयों की हालत का मुख्तसर हाल भी सुना दूंगा । कांग्रेस ने मुझे छः महीने की रजा दी और मेरे स्थान पर नेटाल के सुविख्यात स्वर्गीय व्यापारी आदमजी मीयां खान को सेक्रेटरी बनाया । मेरी अदम मोजूदगी में उन्हों ने बडी ही होशियारी के साथ उस काम को आगे बढाया । स्वर्गीय आदमजी मीयां खान अंगरेजी अच्छी जानते थे । अनुभव से अपने थोडे से कामचलाउ ज्ञान को आपने खूब बढा लिया था । गुजराती का अभ्यास साधारण था । उनका व्यापार ज्यादहतर हबशियों में फैला हुआ था । अतः उनको

जूलु भाषा और उस जाति के रीती-रवाजों से अच्छी वकफियत थी । मिजाज बडा गहरा ओर मिलनसार । उतना ही बोलते जितने की जरूरत रहती । यह सब मैं यह बताने के लिए लिख रहा हूं कि भारी जवाबदेही के ओहदे का काम करने के लिए अंगरेजी भाषा की अथवा अन्य प्रकार के अक्षर ज्ञान की जितनी जरूरत होती है, उससे कहीं अधिक जरूरत तो सचाई, शान्ति, सहनशीलता, दृढता, समयसूचकता, हिंमत और व्यवहार बुद्धि की होती है । अगर ये न हों तो अच्छे से अच्छा अक्षरज्ञान भी सामाजिक काम के लिए कोडी मूल्य का भी नहीं होता।

सन १८९६ में मैं भारत लौटा । कलकत्ता होता हुआ आया। क्योंकि उस समय कलकत्ता जाने वाली नेटाल की स्टीमरें आसानी से मिल सकती थीं । गिरमिटिया कलकत्ता से या मद्रास से जहाज पर चढाये जाते थे। कलकत्ता से बम्बई आते समय रास्ते में एक गाडी मेरे हाथ से छूट गई । अतः एक दिन के लिए मुझे इलाहाबाद में ही ठहरना पडा। बस वहीं से मैंने अपना काम शुरू कर दिया । पायोनियर के मि. चेझनी से मिला । उन्होंने मेरे साथ बडी सभ्यता और प्रेम से बातचीत की, और प्रामाणिकता-पूर्वक मुझसे साफ साफ कह दिया कि उनका दिल द. आ. के उन संस्थानों की ओर अधिक झुका हुआ है । लेकिन मैं कुछ लिखूं तो उसे पढकर उसपर एक टिप्पणी लिखने का वादा उन्होंने मुझ से जरूर किया । मैंने इसीको बहुत माना । दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की दशा-दर्शक एक ट्रैक्ट मैंने लिखा । करीब करीब सब अखबारों में उसपर टिप्पणियां आई । मुझे उसके दो दो संस्करण छपाना पडे । पांच हजार प्रतियां देशमें जगह जगह भेज कर बंटवा दीं । इसी समय मैंने बंबई में सर फिरोजशाह महेता,

न्यायमूर्ति बदरुद्दीन तैयबजी, महादेव गोविंद रानडे वगैरा, पूना में लोकमान्य तिलक और उनका मंडल, प्रो. भांडारकर, गोपाल कृष्ण गोखले और उनका मण्डल, आदि भारत के नेताओं के दर्शन किये। और बम्बई से लगाकर पूना और मद्रास में भाषण भी दिये । इनका वर्णन मैं यहां पर नहीं देना चाहता ।

पर पूना का एक पवित्र स्मरण यहां पर लिखे बिना म आगे नहीं बढ सकता, यद्यपि हमारे इस विषय के साथ उसका संबन्ध नहीं । पूना में सार्वजनिक सभा लोकमान्य के हाथों में थी । स्वर्गीय गोखले का संबंध डेक्कन सभा के साथ था । मैं पहले पहल मिला तिलक महाराज से । जब मैंने पूना में सभा करने का अपना हेतु प्रकट किया तब उन्हों ने पूछा—आप गोपालराव से मिले।

मैं उनके कहने का आशय नहीं समझा, इसलिए उन्हों ने फिर पूछा कि आप मि. गोखले से मिल चुके हैं ? उन्ह आप जानते हैं ?

मैंने कहां—अभी उनसे नहीं मिला । केवल नाममात्र से उन्हें जानता हूं । पर मिलना जरूर चाहता हूं ।

लोकमान्य-मालूम होता है आप भारतीय राजनैतिक हलचलोंसे परिचित नहीं है ।

मैंने कहाः—इंग्लेंड से शिक्षा प्राप्त करके लोटने पर मैं भारत में बहुत कम ठहरा । और तब भी राजनैतिक बातों में मैंने जरा भी भाग नहीं लिया । मैं इसे अपनी शक्ति के बाहर की बात मानता था ।

लोकमान :—तो मुझे आपको इन बातों का कुछ परिचय देना होगा। पूना में दो पक्ष हैं। एक सार्वजनिक सभा का और दूसरा डेक्कन सभा का ।

मैंने कहा :—हां, इस विषय में तो मैं कुछ कुछ जानता हूं।

लोकमान्य :—यहां पर सभा भरना तो एक आसान बात है। पर मैं देखता हूं कि आप अपना सवाल सब पक्षों के सामने पेश करना चाहते हैं और सहायता भी सब की चाहते हैं। इसे मैं बहुत पसंद करता हूं। पर यदि आपकी सभामें हममेंसे कोई अध्यक्ष हो तो डेक्कन सभावाले नहीं आवेंगे। और यदि उनमें से कोई अध्यक्ष होगा तो हम कोई न जावेंगे। इसलिए आपको कोई तटस्थ अध्यक्ष ढूंढना चाहिए। मैं तो इस विषय में केवल सूचनाभर कर सकता हुं। दूसरी सहायता मुझसे न हो सकेगी। आप प्रो. भांडारकर को पहचानते हैं। अगर नहीं जानते हों तो भी उनके पास अवश्य जाइएगा। वे तटस्थ माने जाते हैं। राजनैतिक हलचलों में कोई भाग भी नहीं लेते। पर संभव है आप उनको ललचा सकेंगे। मि. गोखले से इस बात का जिक्र कीजिए। उनकी भी सलाह लीजिए। बहुत संभव है वे भी मेरे ही जैसी सलाह देंगे। अगर प्रोफेसर भांडारकर अध्यक्ष हों तो मुझे यकीन है कि सभा के काम को दोनों पक्ष उठा लेंगे। हम तो इसमें आपकी पूरी सहायता करेंगे।

यह सलाह ले कर मैं गोखलेजी के पास पहुंचा। इस पहली मुलाकात ही में उन्होंने मेरे हृदय में जिस प्रकार राज्याधिकार प्राप्त कर लिया—उसे मैं किसी अन्य प्रसंग पर लिख गया हूं। जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे 'यंग इंडिया' या 'नवजीवन' की फाइल को देखें।† लोकमान्य की सलाह को गोखलेजीने भी पसंद किया। फौरन मैं डा. भांडारकर के पास पहुंचा। उन

---

† देखो यं. इं. ता. १३–७–२१ नवजीवन ता. २८-७-२१

विद्वान् बुजुर्ग के दर्शन किये। नाताल का किस्सा ध्यानपूर्वक सुन कर उन्होंने कहा–आपसे यह बात छिपी नहीं है कि मैं सार्वजनिक हलचलों में बहुत कम भाग लेता हूं और अब तो बूढा भी हो गया तथापि आपकी बातोंने मेरे दिल पर गहरा असर किया है। मालूम होता है आप सभी पक्षों की सहायता लेना चाहते हैं। साथ ही आप भारतीय राजनैतिक हलचलों से अपरिचित भी मालूम होते हैं। नौजवान भी हो। इसलिए दोनों पक्षों से कहिए कि मैंने आपकी बात को मान लिया है। सभा भरने पर उसमें से कोई भी मेरे पास अगर बुलाने आ जायगा तो मैं उसी वक्त चला आऊंगा। पूना में सुंदर सभा भरी। दोनों पक्षों के नेता हाजिर थे, और दोनों पक्ष के नेताओंने भाषण दिये।

म मद्रास गया। वहां जस्टिस सुब्रह्मण्यम् आयर से मिला और आनंदाचार्लु, "हिन्दू" के तत्कालीन संपादक। जी. सुब्रह्मण्यम आर "मद्रास" के संपादक परमेश्वर पिल्लै, प्रख्यात वकील भाष्यम् आयंगार। मि. नार्टन वगैरा को भी मिला। वहां भी सभा हुई। वहां से कलकत्ता गया। वहां पर सुरेन्द्रनाथ बैनरजी, महाराजा सत्येन्द्रनाथ टागोर "इंग्लिशमन" के संपादक स्वर्गीय श्री० साण्डर्स आदि को भी मिला। वहां सभा की तैयारियां हो रही थीं कि इतने में—अर्थात् नवम्बर मास में नेटाल का तार मिला कि "एकदम चले आओ।" म समझ गया कि भारतीयों के खिलाफ कोई नवीन हलचल फिर से खडी हुई हे। इसलिए कलकत्ता का काम वैसा ही छोडकर म वापिस लौटा। और बम्बई से मिलने वाली पहली ही स्टीमर में मैं चढ गया। इस स्टीमर को दादा अब्दुल्ला की दुकान ने खरीदी थी। अपने साहसों में नेटाल और पोरबंदर के बीच स्टीमर चलाने का उनका यह पहला साहस था। स्टीमर

का नाम "कुर्लिंड" था । इस स्टीमर के बाद फौरन ही पर्शियन कंपनी की आगबोट "नादरी" भी नेटाल के लिए रवाना हुई । मेरी टिकट "कुर्लिंड" की थी । साथ बालबच्चे भी थे । दोनों स्टीमरों में सब मिलाकर दक्षिण आफ्रिका जाने वाले कोई ८०० मुसाफिर होंगे । भारत में मैंने जो हलचल की उसका असर बहुत भारी हुआ । बहुत से मुख्य मुख्य समाचार पत्रों में उसपर टिप्पणियां भी निकलीं । सो भी इतनी कि रूटर ने इस के अनेक तार भी भेजे । यह बात नेटाल पहुंचने पर मुझे मालूम हुई । इंग्लेंड भेजे गये तारों पर से वहां के रूटर के प्रतिनिधि ने एक छोटा सा तार दक्षिण आफ्रिका में भी भेजा । मैंने भारत में जो कुछ किया था उसे कुछ नमकमिर्च लगाकर इस तार में लिखा गया था । ऐसी अत्युक्तियां हम कई बार देखते हैं । ओर यह सब जान बूझकर नहीं होता । बहुकामी लोग अखबारों को ऊपर ऊपर देख लेते हैं । कुछ कुछ उनके अपने ख्याल भी होते ही हैं । वे एक ढांचा बनाते हैं, तहां उनका दिमाग कुछ ओर ही बना लेता हैं । फिर यह जहां जहां पहुंचता है तहां तहां उसका और ही अर्थ लगाया जाता है । और यह सब अनायास ही होता है । सार्वजनिक प्रवृतियों में यह एक खतरा है । एक तरह से यह उसकी एक हद भी है । भारत में मैंने नेटाल के गोरों पर आक्षेप किये थे । गिरमिटियाओं पर लगाये गये ३ पाऊंड के कर पर मैंने बहुत सख्त भाषण किया था । सुब्रह्मण्यम् नामक एक गरीब गिरमिटिया पर उसके मालिक ने बडी बेरहमी के साथ हमला किया । उसको जो जख्म हुआ था उसे मैंने देखा था । उसका सारा केस मेरे पास था । इसलिए उसका ठीक ठीक वर्णन मैं कर सका । इन सब बातों का सार जब नेटाल वासियों ने देखा तब वे मेरे खिलाफ बहुत उखड गये । खूबी यह थी कि

जो कुछ मैंने नेटाल में लिखा और कहा था, वह मेरे भारत में लिखे लेखों और भाषणों की अपेक्षा अधिक सख्त और खुलासेवार था। भारत में मैंने एक भी ऐसी बात नहीं कही थी जिसमें जरा भी अत्युक्ति हो। पर मैं अपने अनुभव से यह बात जरूर जानता था कि एक अपरिचित आदमी के सामने जिस किसी बात का हम वर्णन करते हैं और उसमें जो कुछ कहते हैं, उससे वह अपरिचित पाठक या श्रोता कहीं अधिक बातें देख लेता है। इससे भारत में नेटाल की हालत का वर्णन करते हुए मैंने जान बूझ कर बातों को बहुत सावधानी के साथ चित्रित किया था। पर नेटाल में मेरे लेख तो बहुत थोडे गोरे पढते थे, और उनकी पर्चा उससे भी कम लोग करते थे। अत: भारत में मैंने जो कुछ कहा था उसका असर उलटा होना स्वाभाविक था, और हुआ भी ठीक वैसे ही। रूटर के तारों को हजारों गोरे पढते थे। फिर तार में जो विषय टिप्पणी लिखने लायक माना गया उसका महत्त्व कहीं अधिक माना जाता है। नेटाल के गोरों के ख्याल में मेरे भाषणों का जितना असर भारत में पडा उतना अगर दर असल पडा होता तो शायद गिरमिट की प्रथा बंद भी हो जाती। आर नेटाल के गोरों को बडा नुकसान पहुंचता। फिर यह भी कहा जा सकता है कि भारत में वे बदनाम भी हो जाते।

इस प्रकार नेटाल के गोरे उभडे हुए थे कि उन्होंने सुना कि मैं सपरिवार कुर्लिंड में वापिस लौट रहा हूं। उसमें ३००–४०० भारतीय प्रवासी भी हैं। साथ ही उतने ही मुसाफिरों से भरी एक दूसरी "नादरी" स्टीमर भी है। इसने तो आग में घी का काम किया। क्रोधाग्नि धधक उठा। नेटाल के गोरों ने

बडी बडी सभायें भरीं। लगभग तमाम अग्रगण्य गोरों ने इसमें भाग लिया। खास कर मुझ पर और साधारणतया तमाम भारतीयों पर सख्त टीकायें हुई। "कुर्लेंड" और "नादरी" के आगमन को चढाई का स्वरूप दिया गया। सभा के वक्ताओं ने यह अर्थ लगाया कि इन आठसौ मुसाफिरों को मैं ही लाया हूं और नाताल को स्वतंत्र भारतीयों से भर देने का मेरा यह पहला प्रयत्न है, आदि सभा को समझाया। सभा में सबने एक मत से यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि दोनों स्टीमरों के मुसाफिरों को और मुझे किनारे पर न उतरने दिया जाय। यदि नाताल की सरकार उन्हें न रोके अथवा न रोक सके तो अभी बनायी गयी समिति कानून को अपने हाथ में ले ले और अपने ही बल से भारतीयो को यहां उतरनेसे रोके। दोनों स्टीमरें एक ही दिन नाताल के बंदरगाह–डर्बन को पहुंची।

पाठकों को याद होगा कि प्लगने पहले पहल सन १८९६ में भारत को अपना स्वरूप दिखाया था। नेटाल की सरकार के पास हमें लोटाने के लिए कोई कानूनन उपाय तो था ही नहीं। उस समय प्रवेश–प्रतिबंधक विधान आस्तित्व में नहीं आया था। नेटाल सरकार तो पूर्णतया उस कमिटी पर ही निर्भर थी। एक सरकारी प्रधान स्वर्गीय मि. ऐस्कंब कमिटी के काम में पूरा भाग लेते थे। वे ही कमिटी को उत्तेजित भी करते थे। तमाम बंदरगाहों में यह एक नियम था कि जिस किसी स्टीमर में चेपी रोग फैला हुआ हो अथवा जो किसी ऐसे बंदरगाह से आ रही हो जहां वह रोग हो तो उस स्टीमर को एक खास समय तक क्वोरंटाइन में रक्खी जावे। अर्थात् स्टीमर के साथ कोई संसर्ग न रक्खा जाय, और मुसाफिर माल असबाब आदि भी न उतारे जायं। पर इस

प्रकार का प्रतिबंध केवल आरोग्य के नियमों के ख्याल से ही और सो भी बंदरगाह के डाक्टर की आज्ञा के आधार पर ही किया जा सकता है। पर नेटाल की सरकारने उसका केवल राजनैतिक उपयोग—अर्थात् सरासर दुरुपयोग किया। और यद्यपि जहाज पर उस रोग का एक भी रोगी न था तथापि दोनों जहाजों को नेटाल की सरकारने २३ दिन तक डर्बन की खाडी में रोक रक्खा। दरमियान कमिटी का काम बराबर जारी रहा। दादा अबदुल्ला 'कुलिण्ड' के मालिक थे और 'नादरी' के एजन्ट थे उन्हें कमिटीने खूब धमकाय चमकाया। अगर स्टीमरों को लोटा दोगे तो आपका इस तरह फायदा किया जायगा आदि लालचें भी बताई, ओर अगर वे न लौटावें तो उनके व्यापार को हानि पहुंचाने का डर भी कितनों ही ने बताया। पर उस दूकान के भागीदार ऐसे वसे न थे। धमकी देने वालों को उन्होंने कहा "मेरा तमाम व्यापार भले ही डूब जाय। मैं झगडते झगडते इसके पीछे खुवार हो जाऊंगा पर आपसे डर कर इन निर्दोष उतारुओं को वापिस लोटाने का अपराध मुझसे नहीं होगा। आप याद रक्खें कि जैसे आपको अपने देश का अभिमान है, वैसे ही कुछ हमें भी तो होगा। इस दूकान के जो पुराने वकील थे वे भी बडे हिंमतवान् और बहादुर आदमी थे।

सौभाग्यवश इसी मौके पर स्वर्गीय मनसुखलाल नाजर (सूरत के एक कायस्थ सज्जन और नानाभाई हरिदास के भानजे) आफ्रिका पहुंचे। मेरी उनकी कोई जान पहचान नहीं थी। उनके उधर जाने की भी मुझे कोई खबर नहीं थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन 'नादरी' और 'कुर्लिण्ड' के मुसाफिरों को मैं नहीं ला रहा था। न मेरा उसम जरा भी हाथ था' अधिकांश तो

दक्षिण आफ्रिका के पुराने निवासी थे। और उनमें भी बहुत से ट्रान्सवाल जाने के लिए आये हुए थे। इन मुसाफिरों को भी डरानेवाली नोटिसें कमिटी से भेजी गईं। स्टीमर के कप्तानों ने उन्हें मुसाफिरों को पढ सुनाया। उनमें साफ साफ लिखा हुआ था कि नेटाल के गोरे हिन्दुस्तानियों के खिलाफ उभडे हुए हैं। और इस हालत को जानते हुए भी यदि कोई हिन्दुस्तानी जहाज से उतरने का प्रयत्न करेंगे तो बंदरगाह पर कमिटी के आदमी हाजर रहेंगे, वे मुसाफिरों को समुद्र में ढकेल देंगे। "कुर्लिन्ड" के मुसाफिरों को मैंने इस नोटिस का तर्जुमा कर के सुना दिया। 'नादरी' के मुसाफिरों को उसीपर के किसी अंगरेजी जानने वाले मुसाफिर ने समझाया। दोनों स्टीमरों के मुसाफिरों ने लौटने से साफ इन्कार कर दिया। और यह भी कह दिया कि अधिकांश 'मुसाफिरों' को तो 'ट्रान्सवाल' जाना है। जो नेटाल में उतरना चाहते हैं उनमें से भी अधिकांश खास नेटाल के पुराने निवासी हैं। पर चाहे जो हो, हर एक मुसाफिर को नेटाल में उतरने का पूरा कानूनन हक जरूर है। और कमिटी उसके जी चाहे सो कर ले मुसाफिर तो अपने हक को पूरा करने के लिए अवश्यमेव उतरेंगे।

नेटाल की सरकार भी थक गई। अयोग्य प्रतिबंध कितने दिन तक चल सकता है? २३ दिन बीत चुके थे। न तो दादा अब्दुल्ला डिगे और न हिन्दुस्तानी मुसाफिर भी पीछे हटे। अर्थात् २३ दिन बाद प्रतिबंध हटाया गया, और स्टीमरों को बंदरगाह में आने की इजाजत मिली। इस अवधि में श्री. ऐस्कंब ने उत्तेजित कमिटी को शांत किया। उन्होंने एक सभा निमंत्रित करके उसमें कहा "डर्बन में गोरों ने खूब एकता और बहादुरी दिखाई। तुम लोगों से

जितना हो सका उतना कर गुजरे। सरकार ने भी तुम्हारी सहायता की। इन लोगोंको २३ दिन तक अटकाये रक्खा। अपने हृद्गत भावों और उत्साह का जो दृश्य आपने दिखाया यही काफी है। बडी सरकार (साम्राज्य सरकार) पर इसका खासा असर पडेगा। आपके कार्य से नेटाल सरकार का काम बहुत सरल हो गया है। पर अब यदि आप बल-प्रयोग से एक भी भारतीय मुसाफिर को जहाज से उतरते हुए रोकेंगे तो अब आप अपने ही कार्य की हानि करेंगे। नेटाल सरकार को विकट स्थिति में डाल देंगे। और न आप उस काम में सफलता ही पा सकेंगे। मुसाफिरों का तो इसमें तिलमात्र भी दोष नहीं। उनमें स्त्रियां और बालक भी हैं। वे जब बम्बई से जहाज पर सवार हुए तब उन्हें आपकी मनोदशा का स्वप्न में भी ख्याल न था। इसलिए अब मेरी सलाह तो यह है कि आपको अब अपने अपने घर को चले जाना चाहिए। इन लोगों को आते हुए जरा भी न अटकाना चाहिए। पर मैं आप को यह वचन दिये देता हूं कि अब इसके बाद आनेवालों पर अंकुश रखने के लिए नेटाल सरकार धारासभा से अवश्य प्रवेश-प्रतिबंधक अधिकार प्राप्त कर लेगी" मैंने तो यहां पर भाषण का सारमात्र दिया है। मि. ऐस्कंब के श्रोतागण निराश तो जरूर हुए, पर नेटाल के गोरों पर उनका बहुत भारी प्रभाव था। गोरों ने अपने अपने घर का रास्ता लिया और दोनों जहाज बंदर में आये।

मुझे उन्होंने कहला भेजा कि मुझे दिन को जहाज न छोडना चाहिए। शाम को पोर्ट के सुपरिन्टेन्डेन्ट को मुझे लिवा जाने के लिए भेजा जायगा, उनके साथ मुझे घर को जाना चाहिए। हां, मेरी पत्नी वगैरा चाहे जब उतर सकते थे। यह कोई बाजाब्ता हुक्म न था। पर कप्तान से सिफारिश की गई थी

कि वह मुझे अकेला न उतरने दे, और साथ ही मेरे सिर पर मंडरानेवाले खतरे से बचने के लिए यह सूचना मात्र थी। ऐसी कोई बात नहीं थी कि कप्तान मुझे जबरदस्ती से रोक सकता हो। पर मैंने सोचा कि मुझे इस सूचना को मान लेना चाहिए। अपने बाल-बच्चों को मने सीधे घर को नहीं भेजा बल्कि डर्बन के विख्यात व्यापारी और मेरे पुराने मवक्किल तथा मित्र पारसी रुस्तमजी के यहां भेज दिया और उन्हें कहा कि मैं भी वहीं मिलूंगा। मुसाफिर वगैरा सब उतर गये कि इतने ही में मि. लाटन—दादा अबदुल्ला के वकील और मेरे मित्र—आये। उन्होंने पूछा "आप अभी तक क्यों नहीं उतरे ?" मैंने मि० ऐस्कंब के पत्र की बात कही। उन्होंने कहा "मुझे तो यह जरा भी पसंद नहीं कि शामतक तक राह देखी जाय और फिर किसी अपराधी या चोर की तरह चुपके चुपके शहर में चला जाय। अगर आप को कुछ भय न मालूम होता हो तो अभी मेरे ही साथ क्यों नहीं चले चलते ? हम लोग इसतरह शहर में हो कर पैदल ही चले चलेंगे मानों कुछ भी न हुआ हो।" मैंने कहा—"मैं तो नहीं मानता कि मुझे इसमें किसी प्रकार का भय है। मेरी नजर के सामने तो केवल यही योग्यायोग्य का सवाल है कि मि. ऐस्कंब की सूचना मानी जाय या नहीं। साथ ही यह भी सोच लेना चाहिए कि इसमें कप्तान की जिम्मेदारी का कोई सवाल तो नहीं है ?" मि. लाटन ने हंसकर कहा "मि. ऐस्कंब ने आपके साथ अभी तक ऐसी कौन भलाई की है जिससे उनकी सूचना पर आपको कुछ भी विचार करना पडे ? फिर आपके पास यह मान लेने के लिए भी क्या आधार है कि उनकी सूचना में केवल भलमनसाहत ही है, रहस्य नहीं ? शहर

में जो कुछ हुआ है और उसमें इन भाई साहब का जो कुछ हिस्सा है उसे आपकी अपेक्षा मैं अधिक अच्छी तरह जानता हूं। (मैंने सिर हिला कर जवाब दिया) पर इतने पर भी हम यह क्षण भर के लिए मान लेते हैं कि उन्होंने भलमनसाहत के साथ ही यह सूचना की होगी। फिर भी इतना तो मैं अवश्य जानता हूं कि उनकी सूचना पर ख्याल करने से आपकी अकीर्ति जरूर होगी। इसलिए मेरी तो सलाह यही है कि यदि आप तैयार हों तो अभी मेरे ही साथ चले चलिए। कप्तान तो अपने ही हैं। अर्थात् उनकी जिम्मेदारी हमारी जिम्मेदारी है। इनको पूछने वाले दादा अबदुल्ला ही तो हैं। वे इस विषय में जो सोचेंगे सो मैं भली भांति जानता हूं। क्योंकि उन्होंने इस मामले में बडी बहादुरी बताई है।'' मैंने कहा ''तो चलिए, मुझे कुछ भी तैयारी करना नहीं हैं। सिर पर पगडी भर देना है। कप्तान को खबर कर के निकल चलें।'' कप्तान की आज्ञा ले कर हम लोग चले।

मि. लाटन डर्बन के बहुत पुराने और बडे ख्यातनामा वकील थे। मैं भारत गया उसके पहले ही उनके साथ मेरा बहुत घनिष्ठ संबंध हो चुका था। अपने महत्वपूर्ण मुकदमों में मैं उन्हींकी सहायता लेता था और कई बार उनको अपने मामलों में बडा वकील भी बनाता था। वे बडे बहादुर आदमी थे। शरीर के ऊंचे-पूरे थे।

हमारा रास्ता डर्बन के बडे से बडे मुहल्लों में से गुजरता था। हम लोग जहाज से उतरे उस वक्त शाम के कोई साढे चार बजे होंगे। आकाश में योंही कुछ मेघ थे, पर सूरज को छिपाने के लिए वे काफी थे। रास्ता इतना लंबा था कि पैदल ही चले जायं तो सेठ रुस्तमजी के बंगले को पहुंचने के लिए कम से कम एक घंटा

तो जरूर लगता । हम उतरे कि कितने ही लडकों ने हमें देखा । बडे आदमी तो उनमें थे ही नहीं । साधारणतया बंदरों पर जितने आदमी होते हैं बस उतने ही मालूम होते थे । कितने ही लडकों ने हमें देखा । मेरे जैसी पगडी पहननेवाला तो अकेला मैं ही था न । लडकों ने मुझे फौरन् पहचान लिया और "गांधी" "गांधी" इसे "मारो" "पीटो" "घेरो" चिल्लाकर हमारी तरफ दौडे । कोई कोई कंकड भी फेंकने लगे । फिर कितने ही अधेड गोरे भी उनमें आ शामिल हुए । कोलाहल धीरे धीरे और बढा । मि. लाटन को मालूम हुआ कि पैदल जाना मानों खतरे को निमन्त्रित करना है । इसलिए उन्होंने रिक्षा मंगाई । रिक्षा मनुष्य द्वारा खींची जानेवाली छोटी टमटम को कहते हैं । मैं तो कभी रिक्षा में बैठा ही न था; क्योंकि मुझे ऐसी सवारी में बैठना बहुत बुरा मालूम होता था कि जिसे मनुष्य खींचता हो । पर आज मुझे मालूम हुआ कि इस समय रिक्षा में सवार होना ही मेरा धर्म है । पर मैंने अपने ही जीवन में पांच सात कठिन अवसरों पर इस बात को प्रत्यक्ष देखा है कि परमात्मा जिसे बचाना चाहता है वह स्वयं भी गिरना चाहे तो वह नहीं गिर सकता । मैं उस समय गिरा नहीं; इसका पूरा श्रेय अकेला मैं कदापि नहीं ले सकता । रिक्षा खींचनेवाले हबशी लोग ही होते हैं । छोटे बडे सभीने रिक्षावाले को डराया कि यदि तू इस आदमी को रिक्षा में बैठावेगा तो हम सब तुझे पीटेंगे और तेरी गाडी को तोड डालेंगे । इसलिए रिक्षावाला तो "खा" (ना) कह कर चलता बना । और मैं रिक्षा में बैठते ही बैठते रह गया ।

अब सिवा पैदल चले जाने के हमारे लिए दूसरा मार्ग ही न था । हमारे पीछे पीछे तो एक खासा जुलूस जुट गया । और

जैसे जैसे हम आगे बढते गये वैसे ही वसे वह भी बढता ही गया। आम रास्ते पर आये कि फिर तो छोटे बडे सैंकडों इकठे हो गये। एक बलवान आदमी ने मि. लाटन को अपने दोनों हाथों में पकड कर मुझसे अलग कर दिया। इससे वे मेरे पास न पहुंच सकते थे। अब मुझपर गालियों, पत्थरों ओर जो जो कुछ उन लोगों के हाथ आया उसकी वर्षा होने लगी। मेरी पगडी उडा दी गई। तबतक एक मजबूत ऊंचेपूरे आदमी ने आकर एक चांटा लगा कर पीछे से एक ऐसी लात जमाई कि मुझे चक्कर आ गया। म गिर ही रहा था कि रास्ते के नजदीकवाले किसी मकान के कम्पाउंड की जाली मेरे हाथ में आ गई। मैंने जरा दम लिया और आंखों की अंधियारी कम होते ही फिर चलने लगा। जिंदा घर को पहुंचने की आशा तो लगभग मैं छोड ही बैठा था। पर इतना तो मुझे अब भी याद पडता है कि इस वक्त भी मेरा हृदय उन मारनेवालों को जरा भी दोष न देता था।

इस प्रकार मैं धीरे धीरे अपना रास्ता तय कर रहा था कि इतने ही में डर्बन के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट की औरत सामने से जा रही थी। हम एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। यह महिला बडी बहादुर थी। यद्यपि आकाश में कुछ कुछ मेघ थे और सूर्य भी अस्त होने ही को था तथापि उसने मेरी रक्षा के लिए अपनी छत्री खोली और मेरे साथ साथ चलने लगी। स्त्री-जाति का अपमान और सो भी डर्बन के पुराने और लोकप्रिय कोतवाल की धर्मपत्नी का अपमान-गोरों से कभी नहीं हो सकता था। वे तो उसे जरा भी हानि नहीं पहुंचा सकते थे। इसलिए उसे बचा कर मुझपर जो प्रहार होता वह तो योंही हलका होता। दरमियान इस हमले की खबर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट को पहुंच गई। फौरन् उन्होंने

मेरी रक्षा के लिए पुलिस का एक दल भेज दिया जिसने मुझे अपने बीच में कर लिया। हमारा रास्ता थाने के पास से हो कर गुजरता था। वहां पहुंचे तो देखा कि कोतवाल साहब हमारी राह ही देख रहे थे। उसने मुझे पुलिस चौकी के अंदर जाने की ही सलाह दी। मैंने इस कृपा के लिए अहसानमंदी जाहिर करते हुए कहा कि मुझे तो अपने मुकाम पर ही जाना होगा। डर्बन के लोगों की न्यायवृत्ति पर और अपने सत्य पर मुझे पूरा विश्वास है। आपने मेरे लिए पुलिस-दल भेजा इसके लिए मैं अहसानमन्द हूं। अलावा इसके मिसेस अलेक्झांडर ने भी मेरी रक्षा की है।

आखिर मैं सहीसलामत रुस्तमजी के बंगले पर पहुंचा। लगभग शाम हो गई थी। कुर्लिंड के डाक्टर दाजी बरजोर, रुस्तमजी के यहीं थे। उन्होंने मेरी शुश्रूषा शुरू की। जखमों को जांचा। बहुतसे जखम नहीं थे। एक बंद चोट लग गई थी, वही अधिक तकलीफ दे रही थी। पर अभी मैं शान्ति पानेका अधिकारी नहीं समझा गया था। रुस्तमजी के मकान के सामने हजारों गोरे इकट्ठे हो गये थे। रात पड गई थी सो बहुत से गुंडे भी उनमें शामिल हो गये थे। लोगों ने रुस्तमजी सेठ से कहला भेजा कि यदि तुम गांधी को हमारे सिपुर्द न करोगे तो तुम्हें और उसके साथ ही साथ तुम्हारी दुकान को भी सुलगा देंगे। पर वे किसी के डराये डरनेवाले नहीं थे। तबतक यह खबर सुपरिन्टेन्डन्ट पुलिस के पास भी जा पहुंची। वे फौरन् ही मय अपनी खुफिया पुलिस के एक दल के इस जमघट में आ घुसे और एक मंच मंगाकर उसपर खडे हो गये। इस प्रकार लोगों से बातचीत करने के बहाने पारसी रुस्तमजी के घर के दरवाजे पर आ पहुंचे जिससे कि उसे तोडकर कोई अन्दर न जा

सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी खुफिया के जवानों को पहले ही योग्य स्थान पर छिपा रक्खा था। वहां पहुंचते ही अपने एक अधिकारी को हिन्दुस्तानी पोशाक पहना हिन्दुस्तानियों के जैसा चेहरा रंगकर हिन्दी व्यापारी की तरह अपने को दिखाने को कह रक्खा था। और उसे यह हुक्म दे रक्खा था कि वह मुझे मिले और कहे कि यदि आप अपने मित्र की, उनके महमानों की, उनके माल की और अपने बाल-बच्चों की रक्षा करना चाहते हो तो आपको एक हिन्दुस्तानी सिपाही का सा लिबास पहन कर पारसी के गोडाउन म होकर इसी भीड में से मेरे आदमी के साथ पुलिस चौकी पर पहुंच जाना चाहिए। इस गलीं के मुहाने पर आपके लिए गाडीं तैयार रक्खी है। आपको और दूसरों को बचाने का केवल यही उपाय मेरे हाथों में है। लोग इतने उत्तेजित हो गये हैं कि रोक रखने के लिए मेरे पास कुछ भी साधन नहीं है। अगर आप जल्दी न करेंगे तो यह मकान अभी मटियामेट हो जायगा। इतना ही नहीं बल्कि इससे जानोमाल का जो नुकसान होगा उसकी मैं कल्पना तक नहीं कर सकता।

फौरन् सारी परिस्थिति मेरे ख्याल में आ गई। मैंने उसी वक्त सिपाही का लिबास मांगा, उसे पहना और वहां से निकल कर सहीसलामत पुलिस चौकी पर जा पहुंचा। इधर कोतवाल साहब प्रसंगोचित गीतों से और भाषणों से भीड को बातों में लगा रहे थे। जहां उन्हें मालूम हुआ कि मैं सहीसलामत पुलिस चौकी पर पहुंच गया कि उन्होंने अपना सच्चा भाषण शुरू किया।

"आप लोग क्या चाहते हो?"

"हम गांधी को चाहते हैं।"

"उसे क्या करोगे?"

"हम उसे जीता जलावेंगे ।"

" उसने आपका क्या बिगाडा ?"

"उसने भारत में हमारे विषय म कितनी ही झूठी बातें कही हैं। और नेटाल में हजारों हिन्दुस्तानियों को भर देना चाहता है ।"

"पर यदि वह बाहर न आवे तो आप क्या करोगे ?"

"तो हम इस मकान को आग लगा देंगे ।"

"इसमें तो उसके बालबच्चे हैं, दूसरे भी स्त्री-पुरुष हैं। स्त्रियों और बच्चों को जलाने में तुम्हें कुछ लज्जा नहीं मालूम होती ?"

"पर यह तो दोष आपका है । आप हम लाचार ही कर दें तो फिर हम भी क्या करें ? हम तो दूसरे किसीको चोट पहुंचाना नहीं चाहते । बस गांधी को हमारे सिपुर्द कर दो कि हो चुका । आप अपराधी को भी न दें और यदि उसे पकडते हुए दूसरों को चोट पहुंचे उसका दोष भी हमारे ही सिर मढें, यह कहां का न्याय ?"

सुपरिन्टेन्डेन्ट ने धीरे से हंस कर कहा कि तो उनके बीच से होकर कभी का दूसरी जगह सहीसलामत पहुंच चुका हूं । यह सुन कर लोग भी ठठा कर हंस पडे। और कहने लगे 'झूठ' 'झूठ' ।

सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कहा, "अगर आपको अपने वृद्ध कोतवाल की बात पर विश्वास न बैठता हो तो अपने ही में से ३।४ आदमियों की कमिटी बनाइए और शेष सब यह वचन दीजिए कि अन्य कोई मकान के अन्दर नहीं जावेगा। और यदि कमिटी गांधी को न ढूंढ सके तो आप सब शांतिपूर्वक अपने अपने घर लौट जावेंगे । आज उत्तेजित होकर आपने पुलिस की सत्ता को नहीं माना, इसमें पुलिस की नहीं आपही की बदनामी है। और इससे

पुलिस को आपके साथ चालबाजी से काम लेना पडा । आपकी शिकार को वह आपके बीच में से निकाल ले गई और आपको हरा दिया। इसमें आपको पुलिस को जरा भी दोष न देना चाहिए, जिस पुलिस को आपने बनाई है उसीने इसमें अपने कर्तव्य का पालन किया है ।"

यह तमाम बातचीत सुपरिन्टेन्डेन्ट ने इतनी मधुरता, हास्य और दृढता के साथ की कि लोगों ने उसे वह वचन भी दे दिया। कमिटी बनी । उसने पारसी रुस्तमजी के मकान का कोना कोना ढूंढ डाला और लोगों से आकर कह दिया कि सुपरिन्टेन्डेन्ट की बात सच है । उसने हमें हरा दिया । लोग निराश तो हुए । पर अपने वचन पर भी कायम रहे । किसीका कुछ नुकसान न किया । सीधे अपने अपने घरको चले गये। उस दिन १८९७ साल की तेरहवीं जनवरी थी ।

उसी दिन सुबह मुसाफिरों पर का प्रतिबन्ध दूर हुआ था कि फौरन् ही डर्बन के एक समाचारपत्र का रिपोर्टर मेरे पास आया। वह सब बातें मुझसे पूछ गया था। मुझपर जो आरोप किया गया था उनका स्पष्टीकरण करना बिलकुल आसान बात थी । तमाम उदाहरण ले ले कर मैंने यह दिखा दिया कि मैंने उसमें तिलमात्र भी अत्युक्ति नहीं की थी। जो कुछ भी मैंने किया वह मेरा धर्म था। अगर मैं वह न करता तो मैं मनुष्य-जाति में गिने जाने लायक न रहता । ये तमाम वर्तमान दूसरे दिन प्रकाशित हो गये । और समझदार गोरों ने अपना अपना दोष कुबूल कर लिया । समाचार पत्रों ने नेटाल की परिस्थिति के विषय में अपने हार्दिक भाव प्रकट किये; पर साथ ही मेरे कार्यों का भी समर्थन ही किया । इससे मेरी और साथ ही भारतीयों की प्रतिष्ठा और भी बढ गई।

गरीब हिन्दुस्तानी भी नामर्द नहीं होते, व्यापारी लोग भी अपने व्यापार की जरा भी पर्वाह न करते हुए स्वाभिमान के लिए स्वदेश के लिए लड सकते हैं यह उन्होंने भली भांति देख लिया।

इससे यद्यपि जाति को तो एक तरह से दुःख सहना पडा, और स्वयं दादा अबदुल्ला को तो बहुत भारी नुकसान भी उठाना पडा तथापि इस दुःख के अन्त में लाभ ही हुआ। कौम को अपनी शक्ति का कुछ अनुमान हुआ और आत्मविश्वास बढा। मुझे अधिक अनुभव हुआ और उस दिन का विचार करते हुए अब तो मालूम होता है कि परमात्मा मुझे सत्याग्रह के लिए धीरे धीरे तैयार कर रहा था।

नेटाल की घटनाओं का असर विलायत पर भी पडा। मि० चेम्बरलेन ने नेटाल की सरकार को तार किया कि जिन लोगों ने मुझपर हमला किया उनपर काम चलाया जाय और मुझे न्याय दिया जाय।

मि० ऐस्कंब न्याय-विभाग के मंत्री थे। उन्होंने मुझे बुलाया। मि० चेम्बरलेन के तार की बात कही। मुझे चोट पहुंची, इसके लिए दुःख प्रकट किया। मैं बच गया, इसलिए संतोष भी व्यक्त किया। और कहा " मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मैं यह जरा भी नहीं चाहता था कि आपको या आपकी कौम के किसी भी आदमी को चोट पहुंचे। मुझे यह डर था कि आपको कहीं चोट न पहुंचे, इसीलिए मैंने आपके पास रात को उतरने की वह सूचना भेजी थी। पर आपको वह सूचना पसंद नहीं आई। मैं इस बात के लिए आपको जरा भी दोष देना नहीं चाहता कि आपने मि० लाटन की बात क्यों मानी। आपको वह पूरा अधिकार था

कि आप वही करें जो आपको योग्य मालूम हो। मि० चेम्बरलेन की मांग से नेटाल सरकार पूरी तरह से सहमत है। हम यह चाहते हैं कि अपराधियों को सजा हो। हमला करनेवालों में से आप किसीको पहचान सकेंगे?" मैंने कहा संभव है एक दो आदमियों को मैं पहचान सकूं। पर यह बात आगे बढ़े उसके पहले मैं यह कह देना चाहता हूं कि मैंने अपने दिल में कभी से यह निश्चय कर लिया है कि मुझपर हमला करनेवालों में से किसीपर भी मैं अदालत में फर्याद करना नहीं चाहता। मुझे तो आक्रमणकारियों का इसमें जरा भी दोष नहीं दिखाई देता। उन्हें तो जो समाचार मिले वे उनके अगुआओं के दिये हुए थे। उनकी सचाई जांचने के लिए वे लोग थोडे ही बैठ सकते हैं? मेरे विषय में उन्होंने जो कुछ सुना वह अगर सत्य हो तो वे उत्तेजित होकर जोश में कुछ अकार्य भी कर डालें, तो मैं उन्हें इसके लिए जरा भी दोष न दूंगा। उत्तेजित जनता इसी प्रकार न्याय मांगती आई है। अगर इसमें किसी का दोष है तो इस विषय के लिए संगठित की गई कमिटी का और आपका। इसीलिए नेटाल सरकार का। रूटर ने चाहे जो तार किया हो पर जिस हालत में मैं यहां आ रहा हूं वह आपको मालूम था तो आपका और उस कमिटी का यह धर्म था कि आपने और उस कमिटी ने जो जो तर्क किये उसके विषय में मुझे पूछ लें, मेरे उत्तर सुन लें, और फिर जो योग्य मालूम हो सो भले ही करें। अब मुझपर किये गये हमले के लिए मैं आपपर या उस कमिटी पर कोई मुकदमा ही नहीं चला सकता और यदि वैसे हो सकता हो तो भी अदालत के द्वारा न्याय प्राप्त करने की मेरी तिलमात्र भी इच्छा नहीं। जिस प्रकार आपको

उचित मालूम हुआ आपने नेटाल गोरों के स्वत्वों की रक्षा के लिए यत्न किया। यह तो राजनीति है। मुझे भी तो इसी क्षेत्र में आपके साथ जूझना है। और आपको तथा अन्य गोरों को यह बात बता देना है कि हिन्दुस्तानी जनता ब्रिटिश साम्राज्य के एक महान् हिस्से की हैसियत से गोरों को बिना कोई नुकसान पहुंचाये केवल अपने स्वाभिमान और स्वत्वों की रक्षा करना चाहती हैं। मि० ऐस्कंब ने कहा आपने जो कुछ कहा मैं सब समझ गया और वह मुझे पसंद भी आया। मैं यह सुनने के लिए तैयार न था कि आप मुकदमा चलाना नहीं चाहते। और अगर तैयार होते भी तो मैं अप्रसन्न न होता। पर जबकि आपने मुकदमा न चलाने का अपना निश्चय प्रकट कर ही दिया है तो मुझे यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता कि आप बिलकुल ठीक निश्चय पर पहुंचे हैं। इतना ही नहीं बल्कि आप अपनी इस सेवा के द्वारा ही अपनी कौम की अधिक सेवा करेंगे। साथ ही मुझे यह भी कुबूल करना चाहिए कि अपने इस कार्य से आप नेटाल सरकार को एक विषम स्थिति से बचा लेंगे। अगर आप चाहें तो हम पकडा-धकडी भी करेंगे पर आपको यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे गोरों का क्रोध फिर भडक उठेगा अनेक प्रकार की टीकायें होंगी। और यह सब किसी भी राज्यसत्ता को पसंद नहीं हो सकता। पर यदि आप उस निश्चय के उपर पहुंच ही चुके हों तो आपको इस आशय की एक चिट्ठी लिखना चाहिए। हमारी बातचीत का सारमात्र लिखकर मैं अपनी सरकार का बचाव चेम्बरलेन के सामने नहीं कर सकता। मुझे तो आपकी चिट्ठी के भावार्थ का ही तार करना होगा। पर मैं यह नहीं कहता कि आप ऐसी चिट्ठी मुझे अभी लिख दें। अपने मित्रों के साथ सलाह-मशवरा कर लीजिए, मि० लाटन की भी सलाह लें

और इसके बाद भी अगर आप अपने ही विचार पर दृढ रहें तो मुझे लिखें । पर यह भी मुझे अवश्य कह देना चाहिए कि आप स्वयं ही फर्याद नहीं करना चाहते हैं इ बात की जिम्मेदारी आपको अपने पत्र में कुबूल करनी होगी । तभी मैं उसका उपयोग कर सकूंगा । मैंने कहा, इस विषय में मैंने किसी की राय नहीं ली । मैं यह भी नहीं जानता था कि आपने मुझे इसी बात के लिए बुलाया था और न मुझे यह इच्छा ही है कि किसीके साथ इस विषय में सलाह-मशवरा करूं । जिस समय मैंने मि०लाटन के साथ घर पर पैदल जाने का निश्चय किया था उसी समय मैंने दिल में यह तय कर लिया था कि यदि मुझे उसमें जरा भी चोट या हानि पहुंचे त. मुझे अपने दिल में बुरा न मानना चाहिए । फिर फर्याद करने ा तो सवाल ही कहां रहा? मेरेलिए तो यह एक धार्मिक प्रश्न ह । और जैसा कि आप कहते हैं मैं यह भी मानता हूं कि म अपने इस संयम से न केवल अपनी जाति की सेवा कर रहा हूं बल्कि इसमें मेरा व्यक्तिगत लाभ भी है । इसलिए इस निश्चय की तमाम जिम्मेदारी अपने सिर पर ले कर मैं वह चिट्ठी आपको यहीं लिख देना चाहता हूं । और मैंने उनसे कोरा कागज लेकर वह पत्र उन्हें वहीं लिख कर दे दिया ।

अध्याय ८

भारतीयों ने क्या किया ? (२)

विलायत का सम्बन्ध

पिछले अध्यायों को पढ कर पाठकों को यह ज्ञात हो गया होगा कि भारतीयों ने अपनी स्थिति सुधारने के लिए अपनी ओर से और अनायासतः कितने प्रयत्न किये और किस तरह वहां अपनी प्रतिष्ठा को बढाया । जिस प्रकार उन्होंने दक्षिण आफ्रिका में अपनी सर्वांगीण उन्नति के लिए यत्न किया उसी प्रकार भारत और इंग्लंड से जो कुछ सहायता मिल सकती थी उसे प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम भी किया । भारत में किये प्रयत्न के विषय में तो मैं कुछ पहले ही लिख चुका हूं । अब यह कहना जरूरी है कि विलायत से सहायता प्राप्त करने के लिए कौम ने क्या क्या किया । कांग्रेस की ब्रिटिश कमिटी के साथ तो अपना संबंध जोडना ही चाहिए था । इसलिए हर सप्ताह हिन्द के दादा और कमिटी के अध्यक्ष सर विलियम वेडरबर्न को भी सविस्तर पत्र लिखे जाते थे । और जब जब अर्जी की नक़ल वगैरा भेजने का

प्रसंग आता तब तब वहां के डाकव्यय वगैरा तथा अन्य सामान्य खर्च के लिए कम से कम दस पौंड भी भेजे जाते थे।

यहां पर दादाभाई का एक पवित्र और स्मरणीय प्रसंग लिख देना चाहता हूं। दादाभाई कमिटी के अध्यक्ष नहीं थे। तथापि हमें तो यही मालूम हुआ कि रुपये वगैरा इन्हींके द्वारा भेजना ठीक होगा। फिर वे भले ही हमारी ओर से अध्यक्ष को दे दिया करें। पर पहले पहल ही जो रुपये-पैसे उन्हें भेजे गये उन्हें उन्होंने लाटा दिया और लिखा कि रुपये वगैरा भेजने का कमिटी सम्बन्धी काम हमें सर विलियम वेडरबर्न के द्वारा ही करना चाहिए। दादाभाई की सहायता तो थी ही पर कमिटी की प्रतिष्ठा सर विलियम वेडरबर्न के मार्फत काम लेने ही से बढती। मैंने यह भी देखा कि यद्यपि दादाभाई इतने वयोवृद्ध थे तथापि पत्र वगैरा भेजने के काम में वे बडे ही नियमित थे। अगर उनके पास लिखने के लिए और कुछ न होता तो कम से कम हमारे पत्र की पहुंच तो लौटती डाक से अवश्य ही आ पहुंचती। और उस में आश्वासन के तौर पर दो एक शब्द जरूर रहते। ऐसे कागज भी वे स्वयं ही लिखते और उन पहुंचवाले पत्रों को भी अपने टिस्यू पेपर बुक में छाप लेते।

पिछले अध्याय में म यह भी बता चुका हूं कि यद्यपि हमने कांग्रेस का नाम वगैरा तो रक्खे थे तथापि हमारा यह हेतु कभी था ही नहीं कि हम अपने सवाल को एक पक्षीय बना लें। इसलिए दादाभाई की जानकारी में अन्य पक्षों के साथ भी हमारा पत्रव्यवहार रहता था। इन में दो मुख्य पुरुष थे। एक तो सर मंचेरजी भावनगरी और दूसरे सर विलियम् विल्सन हंटर। सर मंचेरजी भावनगरी उस समय पार्लियामेन्ट में थे। इनकी ओर से अच्छी

सहायता मिलती थी और वे हमेशा सूचनायें भी किया करते थे। पर दक्षिण आफ्रिका के सवाल के महत्त्व को भारतीयों से भी पहले समझनेवाले और वैसी ही कीमती सहायता करनेवाले सज्जन सर विलियम विल्सन हंटर थे। वे टाइम्स के हिन्दी विभाग के संपादक थे। इनके पास पहला पत्र गया तभी से इन्होंने उसमें दक्षिण आफ्रिका की स्थिति को यथार्थ स्वरूप में जनता के सामने रख दिया। जहां जहां उचित मालूम हुआ तहां तहां खानगी पत्र भी लिखे। जब कोई महत्त्व का प्रश्न छिडा हुआ होता था तब इनकी डाक बराबर नियम से हर सप्ताह आती। अपने पहले ही पत्र में लिखा था—"आपने वहां की स्थिति का जो हाल लिखा है उसे पढ कर मैं दुःखित हूं। आप अपना काम निःसन्देह विनय-पूर्वक, शान्ति के साथ और निरतिशयता से ले रहे हैं। इस प्रश्न में मैं पूरी तरह से आपकी तरफ हूं । और न्याय प्राप्त करने के लिए मुझसे जो कुछ बन पडे सब करना चाहता हूं। मुझे तो निश्चय है कि इस विषय में हम एक इंचभर भी पीछे पैर नहीं रख सकते। आपकी मांग तो ऐसी है कि कोई भी निष्पक्ष मनुष्य उसमें तिलमात्र रद्दो—बदल नहीं कर सकता।" करीब करीब यही शब्द उन्होंने "टाइम्स" के अपने पहले लेख में लिखे थे। और आखिर तक उसी बात पर कायम रहे। लेडी हंटर ने अपने एक पत्र में लिखा था कि जब उनकी मृत्यु का समय आया तब उन दिनों में भी उन्होंने भारतीयों के प्रश्न पर एक लेखमाला लिखने के लिए एक ढांचा तैयार कर रखा था।

मनसुखलाल नाजर का नाम पिछले प्रकरण में लिख चुका हूं। प्रश्न को अधिक अच्छी तरह समझाने के लिए उन्हें विलायत

भेजा गया था और उन्हें यह सूचित कर दिया गया था कि तमाम पक्षों को अपने साथ में ले कर वे वहां काम करें। और वे जबतक वहां रहे तबतक सर विलियम विलसन हन्टर और सर मंचेरजी भावनगरी से मिलकर ही रहते थे। उसी प्रकार भारत में काम किये हुए अन्य महकमों के पेन्शन पानेवाले अधिकारी लोग, भारतीय सचिव-मंडल, तथा उपनिवेश-सचिव-मंडल आदि के भी निकट परिचय में रहते थे। इस प्रकार जहांतक हम पहुंच सकते थे ऐसी एक भी दिशा खाली नहीं रक्खी थी कि जहां कोई प्रयत्न न किया गया हो। इन तमाम प्रयत्नों का निश्चित परिणाम तो यह हुआ कि प्रवासी भारतवासियों का प्रश्न बडी— साम्राज्य सरकार के लिए एक महत्त्वपूर्ण वस्तु हो गई। और इसका अच्छा तथा खराब परिणाम अन्य राज्यों में भी हुआ। अर्थात् जहां जहां भारतीय और अंगरेज बसते थे वहां वहां वे जाग्रत हो गये।

अध्याय ९

बोअर लडाई

पाठकों ने यदि पिछले अध्याय ध्यानपूर्वक पढे होंगे तो उन्हें अवश्य ही इस बात का ख्याल हो गया होगा कि बोअर लडाई के वक्त दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की स्थिति कैसी थी। तबतक जो कुछ प्रयत्न हुआ उसका वर्णन भी पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। सन १८९९ में डॉ. जेमीसन ने, जैसा कि पहले सोने की कानों के मालिकों के साथ खानगी तौर से तय हो चुका था, जोहान्सबर्ग पर चढाई की। ख्याल तो दोनों का यह था कि जोहान्सबर्ग पर हमारा अधिकार हो जाने के बाद ही यह खबर बोअर सरकार को मालूम होगी।

पर डा. जेमीसन और उनके मित्रो ने अपने अन्दाज में बहुत भारी गलती की। दूसरे, उन्होंने यह भी सोच रक्खा था कि रोडेशिया में शिक्षा पाये हुए निशानबाज सिपाहियों के आगे बिना तालीम पाये हुए बोअर किसान क्या कर सकेंगे? उन्होंने यह भी सोचा था कि जोहान्सबर्ग की अधिकांश जनता तो उनका स्वागत ही करेगी। इन भले डाक्टर साहब का यह अंदाज भी बिल्कुल

गलत साबित हुआ। प्रेसिडेन्ट क्रूगर को इन तमाम बातों की खबर बहुत अच्छे समय पर मिल चुकी थी। उन्होंने बडी शान्ति और कुशलता के साथ छिपकर ही डाक्टर साहब का सामना करने की व्यवस्था कर ली। साथ ही उस षड्यंत्र में जो जो आदमी मिले हुए थे उन सब को पकडने की तैयारी भी कर रक्खी। डाक्टर साहब जोहान्सबर्ग के नजदीक भी न पहुंचे कि उसके पहले ही से बोअर फौज ने अपनी गोलियों से उनका स्वागत करना आरंभ किया। इस फौज के सामने डा. जेमिसन की टुकडी कदापि नहीं टिक सकती थी। प्रे. क्रगर ने इस बात की भी पूरी व्यवस्था कर दी थी कि जोहान्सबर्ग में कोई अपना सामना न कर सके। अतः बस्ती में तो किसीने भी ऊंचा सिर न किया। प्रेसिडेन्ट क्रूगर की हलचल को देखकर जोहान्स-बर्ग के वे करोडपति तो अवाक् रह गये। इतनी बढिया व्यवस्था का फल यह हुआ कि खर्च भी बहुत कम हुआ और जानें भी बहुत कम गईं।

डा. जेमीसन और उनके मित्र—सोने की कानों के मालिक पकडे गये। बहुत तेजी से उनपर मामला चलाया गया। कितनों को फांसी की सजायें सुनाई गईं। इनमें से अधिकांश तो करोडपति ही थे। भला इसमें बडी सरकार क्या कर सकती थी? वह तो दिन-दहाडे की डकैती थी। प्रेसीडेन्ट क्रगर की कीमत एकदम बढ गई। मि. चेम्बरलेन ने दीनता से भरा हुआ एक तार किया और प्रेसिडेन्ट क्रूगर के दयाभाव को जाग्रत करते हुए उन बडे आदमियों के लिए दया की भीख मांगी। प्रेसिडेन्ट क्रूगर अपने खेल में निपुण था। यह तो किसीको भी डर न था कि कोई भी शक्ति दक्षिण आफ्रिका में से इनकी राज्य-सत्ता छीन सकती है।

बेचारे डा. जेमीसन और उनके मित्र समझते थे कि हमारा षड्यंत्र बहुत अच्छी तरह से रचा गया है। पर प्रे. क्रूगर के लिए तो वह बच्चों का एक खेल-मात्र था। इसलिए उन्होंने चेम्बरलेन की विनति को स्वीकार किया और किसीको फांसी पर नहीं चढाया। इतना ही नहीं बल्कि सबको क्षमा करके छोड दिया।

पर एक बार उलटा हुआ अन्न पेट में कब तक रह सकता है? प्रे. क्रूगर जानते थे कि डा. जेमीसन का षड्यन्त्र एक भीषण रोग का छोटासा चिन्ह है। यह असंभव है कि जोहान्सबर्ग के करोडपति अपनी बदनामी को धो डालने का कभी प्रयत्न न करेंगे। फिर जिन सुधारों के लिए डा. जेमीसन का षड्यन्त्र रचा गया था उनमें से तो एक अंश भी उन्हें नहीं मिला था। इसलिए यह भी असंभव था कि करोडपति चुपचाप बैठे रहें। उनकी मांगों के साथ दक्षिण आफ्रिका के हाइ कमिश्नर—ब्रिटिश सल्तनत के मुख्य प्रतिनिधि लार्ड मिल्नर की पूर्ण सहानुभूति थी। उसी प्रकार ट्रान्सवाल के द्रोही—षड्यंत्रियों के प्रति बताई गई प्रे. क्रूगर की उदारता की तारीफ करते हुए मि. चेम्बरलेन ने सुधारों की आवश्यकता की ओर भी तो उनका ध्यान आकृष्ट किया था। सब कोई जानते थे कि सिवा लडाई के झगडा मिटना असंभव है। कानों के मालिकों की मांगें भी ऐसी ही थीं कि ट्रान्सवाल में बोअर-सत्ता का प्राधान्य जाता रहे। दोनों पक्ष जानते थे कि लडाई अनिवार्य है। इसलिए दोनों पक्ष तैयारी कर रहे थे। तत्कालीन शब्द-युद्ध देखते ही बनता था। प्रे. क्रूगर ने ज्यादह हथियार वगैरा मंगाये कि फौरन् ब्रिटिश राजदूत अपनी सरकार को चेतावनी देता कि अंगरेज सरकार को भी आत्मरक्षा के लिए दक्षिण आफ्रिका में कुछ फौज भेज देनी चाहिए।

और ब्रिटिश फौज दक्षिण आफ्रिका में आई कि प्रे. क्रूगर की ओर से उलहना दिया जाता और अधिकाधिक तैयारी की जाती। इस प्रकार एक पक्ष दूसरे पक्ष पर आरोप करते हुए दोनों तेजी के साथ युद्ध की तैयारी करते जा रहे थे।

जब प्रेसिडेन्ट क्रूगर अपनी ओर से पूरी तैयारी कर चुके, तब उन्होंने देखा कि अब बैठ रहना अपने आप शत्रु के शरण जाने के बराबर है। ब्रिटिश सल्तनत के पास धन और पशुबल का अखूट भांडार है। वह प्रे. क्रूगर को समझाते-बुझाते न्याय के लिए प्रार्थना करते हुए धीरे धीरे तैयारी करती हुई बहुत समय योंही निकाल सकती है। साथ ही संसार को यह भी दिखा सकती है कि जब प्रे. क्रूगर बिल्कुल ही नहीं मानते तब लाचार होकर उसे युद्ध करना पड रहा है। और यह कहते हुए फिर इस तैयारी के साथ युद्ध करे कि प्रे. क्रूगर उसके सामने खडा ही न रह सके। उसे दीन बनकर ब्रिटिश सल्तनत की मांगें कबूल करना ही पडें। पर जिस राष्ट्र में १८ वर्ष की उम्र से लगाकर ६० वर्ष की उम्रतक के पुरुष युद्ध-कुशल हों, जिस राष्ट्र की स्त्रियां भी अगर चाहें तो लड सकती हों, जो राष्ट्र स्वतंत्रता को एक धार्मिक सिद्धान्त समझता हो, वह एक चक्रवर्ती सम्राट् की शक्ति के सामने भी दीन न होगा। बोअर लोग ऐसे ही बहादुर हैं।

आरेंज फ्री स्टेट के साथ प्रे. क्रूगर ने पहले ही से सलाह कर रक्खी थी। इन दोनों बोअर राज्यों की पद्धति एक ही थी। प्रे. क्रूगर जरा भी नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार की मांग को पूरी तरह कबूल किया जाय, या कम से कम यहां तक भी समझौता कर लिया जाय कि कानों के मालिक संतुष्ट हो जायं।

इसलिए दोनों राज्यों ने विचारा कि अब यदि लडाई अनिवार्य ही है तो जितनी देर अपनी ओर से होगी उतना ही अधिक समय ब्रिटिश सरकार को तैयारी के लिए मिलेगा। इसलिए प्रे. क्रूगर ने अपने अंतिम विचार तथा आखिरी मांग लार्ड मिल्नर को लिख भेजी और उसीके साथ साथ ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट की सरहद पर फौज को भी लाकर रख दिया। इसका फल दूसरा हो ही नहीं सकता था। ब्रिटिशों के जैसा चक्रवर्ती राज्य कभी धमकियों के वश भी हो सकता है? आखिरी नोटिस की मीयाद पूरी हुई। और बिजली की गति से बोअर फौज आगे बढी। लेडी स्मिथ; किंबरली, और मेफेकिंग पर घेरा डाल दिया। इस प्रकार १८९९ में महान् युद्ध शुरू हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि लडाई के कारणों में से—अर्थात् ब्रिटिश मांगों में—बोअर राज्यों में भारतीयों की परिस्थिति भी एक थी।

अब दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के सामने यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न खडा हुआ कि उन्हें इस समय क्या करना चाहिए। बोअर लोगों में से तो सारा पुरुषवर्ग लडाई पर चला गया। वकीलों ने वकालत छोड दी, किसानों ने अपने खेत छोड दिये, व्यापारियों ने अपने व्यापार को तिलांजलि दे दी, और नोकरों ने अपने इस्तीफे पेश कर दिये। अंगरेजों की ओर से इस परिमाण में तो नहीं तथापि केप कालोनी, नेटाल और रोडेशिया से मुल्की-वर्ग में से बहुत बडी संख्या में लोग स्वयंसेवक बने। बहुत से अंगरेज वकील और व्यापारी भी शामिल हुए। जिस अदालत में मैं वकालत करता था वहां अब बहुत थोडे वकील रह गये थे। बडे बडे वकील तो तमाम लडाई के काम में भिड गये थे। भारतीयों पर जो अनेक आरोप लगाये जाते थे उनमें एक यह भी था कि ये लोग

तो दक्षिण आफ्रिका में केवल धन इकट्ठा करने के लिए आते हैं। हम अंगरेजों के लिए केवल भाररूप हैं। और जिस तरह दीमक लकडी को कुतर कर बिल्कुल पोला कर डालती है ठीक उसी तरह ये लोग हमारा कलेजा खाने के लिए आये हुए हैं। मुल्क के उपर यदि कोई संकट आवे—घरबार लुट जाने का प्रसंग आवे तो ये हमारे किसी काम में आने वाले नहीं। हमें न केवल शत्रुओं से अपनी रक्षा करनी होगी बल्कि इनको भी बचाना होगा।" इस आरोप पर हम तमाम भारतीयों ने विचार किया। और सब को यही मालूम हुआ कि यह सिद्ध कर दिखाने के लिए कि वह केवल मिथ्या है यही सबसे बढिया अवसर है, पर साथ ही हमें नीचे लिखी बातों पर भी विचार करना पडा।

"हमें तो क्या अंगरेज और क्या बोअर दोनों एकसा लेखते हैं। यह तो हुई नहीं कि ट्रान्सवाल में दुःख है और नेटाल-केप में नहीं। अगर कोई फर्क है तो केवल परिमाण में। फिर हम तो गुलाम जैसे माने जाते हैं। हम जानते हैं कि बोअर जैसी मुट्ठीभर जाति भी अपने स्वत्वों के लिए लड रही है फिर हम उसके विनाश में सहायक क्यों कर हों? और परिणाम की दृष्टि से देखा जाय तो यह भी निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि बोअरों की ही हार होगी। अगर वे विजयी हो जायं तो क्या हमसे बदला न लेंगे?"

हममें से एक बलवान् पक्ष इस दलील को जोरों के साथ पेश कर रहा था। स्वयं मैं भी इस दलील को समझ सकता था, और आवश्यक महत्त्व भी उसे जरूर देता था। तथापि मुझे वह बिल्कुल ठीक न मालूम हुई। अतः मैंने इस दलील के रहस्य का उत्तर अपने दिल को और अपने लोगों को इस तरह दिया:—

"दक्षिण आफ्रिका में हमारी हस्ती केवल ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से ही है। हरएक दरख्वास्त में जो हक मांगे हैं वे भी इसी हैसियत से मांगे गये हैं। ब्रिटिश प्रजा कहलाने में अपना गौरव समझा है, अथवा कम से कम ऐसा राज्याधिकारियों को दिखाया है कि हम ऐसा मानते हैं। राज्याधिकारियों ने भी हमारे स्वत्वों की रक्षा इसीलिए की है कि हम ब्रिटिश राज्य की प्रजा हैं। और जो जो कुछ कर सके हैं सब इसी हैसियत के बल पर। दक्षिण आफ्रिका में अंगरेज हमें दुःख देते हैं इसलिए हमें —हमारे मनुष्यत्वको भी—यह शोभा नहीं देता कि उनके और हमारे घरबार लुट जाने का प्रसंग आवे तब हम तमाशबीन की तरह यह सब तमाशा दूर से देखते रहें। इतना ही नहीं बल्कि अपने इस कार्य से हम अपना दुःख और भी बढा लेंगे। जिस आरोप को हम असत्य मानते हैं और जिसे असत्य सिद्ध कर दिखाने का मौका अनायास मिला है उसे अपने हाथ से खो देना मानों उसे स्वयं ही सच्चा साबित कर देना है। फिर यदि हमपर अधिक आफतें मुसीबतें आवें और अंगरेज तानें मारें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात न समझनी चाहिए। यह तो हमारा ही दोष कहा जायगा। फिर यह कहना कि अंगरेज लोग जितने आरोप हमपर लगाते हैं वे सब निर्मूल हैं, वे ध्यान देने योग्य भी नहीं, मानों अपने आपको ठगने के बराबर है। यह सच है कि हम अंगरेजी राज्य में गुलामों के जैसे हैं पर हमारा अबतक का बर्ताव ब्रिटिज साम्राज्य में रहते हुए गुलामी मिटाने का प्रयत्न करने की ओर ही रहा है। भारत के तमाम नेता भी ऐसा ही कर रहे हैं। हम भी वही कर रहे हैं। और यदि हम चाहते हों कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर रहकर ही हम अपनी स्वाधीनता

और उन्नति प्राप्त करें तो उसके लिए इस समय लडाई में तन मन घन से सहायता करना ही बढिया मौका है। यह तो हम अधिकांश में कबूल कर सकते हैं कि बोअरों की तरफ न्याय है। पर राज्य के अंदर रहकर हरएक प्रजाजन अपने व्यक्तिगत विचारों पर पूरी तरह अमल नहीं कर सकता। यह बात नहीं कि राज्याधिकारी जितने कार्य करते हैं वे सब योग्य ही होते हैं। तथापि जहांतक प्रजाजन किसी शासन-तंत्र को कुबूल करते हैं तहांतक उनका यही स्पष्ट धर्म है कि उसके कार्यों से वे सामान्यतः अनुकूल ही रहें।

फिर यदि प्रजा का कोई हिस्सा राज्य के किसी भी काम को यदि धार्मिक दृष्टि से अनीतिमय माने तो उस समय उस कार्य में विघ्न डालने या सहायता करने के पहले उसका पहला कर्तव्य यह होगा कि वह राज्य को उस अनीति से बचाने का पूरा प्रयत्न करे और यदि यह कर्तव्य करते हुए अपनी जान को भी जोखिम में डालना पडे तो भी पीछे न हटे। पर हमने इसमें से कुछ भी नहीं किया। न हमारे सामने ऐसा कोई सवाल ही उपस्थित हुआ और न हममें से किसीने यह कहा या माना कि अमुक सार्वजनिक और संपूर्ण कारण का विचार करते हुए हम लडाई में कोई भाग लेना नहीं चाहते। इसलिए प्रजाजन की हैसियत से तो हमारा यही धर्म है कि इस समय लडाई के गुणदोषों का विचार छोड कर लडाई छिड ही गई है तो उसमें यथाशक्ति सहायता करें। इस समय यह कहना कि यदि आखिर में बोअरो की विजय हुई—और यह मानने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं कि वे नहीं जीतेंगे—तो हम कढाई से निकल कर भट्टी में गिरेंगे, वे हमसे मनमाना बदला लेंगे, बहादुर बोअरों के साथ तथा स्वयं

हमारे साथ भी अन्याय करना है। यह तो हमारी कायरता की निशानी कही जायगी। इस बात का ख्याल तक करना हमारी वफादारी पर कलंक लगाना है। क्या कोई अंगरेज कभी क्षण भर के लिए भी ऐसा विचार कर सकता है कि यदि अंगरेजों की हार हुई तो उसकी क्या हालत होगी। रणांगण में डंड फटकार कर कूदनेवाला कोई भी मर्द ऐसी बेहूदा बातें नहीं कर सकता—वे तो सरासर मनुष्यत्व के खिलाफ हैं।"

यह दलील मैंने १८९९ में पेश की थी। और आज भी मुझे उसमें रद्दोबदल करने लायक कोई बात नहीं मालूम होती। अर्थात् ब्रिटिश राज्यतंत्र पर उस समय मेरा जितना मोह था, अपनी स्वाधीनता की आशा का जो सुंदर दृश्य मैं उस समय इस राज्यतंत्र के अन्दर देखता था—वह मोह और वही आशा यदि आज भी कायम हो तो मैं अक्षरशः यही दलील दक्षिण आफ्रिका में और ऐसे ही प्रसंगों पर यहां भी अवश्य करूं। इस दलील के विपक्ष में बहुत सी दलीलें मैंने दक्षिण आफ्रिका में और उसके बाद विलायत में भी सुनीं। तथापि अपने विचारों को बदलने लायक कोई कारण मैं उनमें न देख सका। मैं जानता हूं कि प्रस्तुत प्रसंग से मेरे आज के विचारों का कोई सम्बन्ध नहीं। पर उपर्युक्त भेद स्पष्ट करने के दो प्रधान कारण हैं। पहला तो यह कि मुझे यह मान लेने का कोई अधिकार नहीं कि इस पुस्तक को जल्दी जल्दी से हाथमें उठा लेने वाला पाठक धीरज और शान्ति के साथ इसे पढ़ेगा, और दूसरा यह कि उस विचार-श्रेणी के अंदर भी सत्य का आग्रह है। हम जैसे हैं वैसे ही दिखाना यह धर्माचरण की यद्यपि आखिरी सीढी न हो तो भी पहली जरूर है। बगैर इस नींव के धर्म-भित्ति की रचना ही असंभव है।

आइए, अब हम फिर इतिहास के सूत्र को आगे बढावें। मेरी दलील को बहुत से लोगों ने पसंद किया। मैं पाठकों के दिल में यह भी भर देना नहीं चाहता कि वह केवल मेरी ही थी। इसके पेश करने के पहले भी लडाई में भाग लेने का विचार रखनेवाले बहुत से भारतीय थे ही। पर अब यह व्यावहारिक प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन नक्कारों की आवाज में भारतीयों की तूती कौन सुनेगा। हथियार तो हममें से किसीने कभी हाथ में ही न लिये थे। पर लडाई में बिन हथियारी काम के लिए भी तो तालीम की आवश्यकता होती है। हमें तो एक साथ 'क्विकमार्च' करना भी याद न था। फिर फौज के साथ लंबी लंबी मंजिलें तय करने, अपना अपना सामान असबाब उठा कर चलने की तो बात ही कौन कहे? दूसरे, गोरे लोग तो हम सबको 'कुली' ही मानते थे। वे यदि हमारा अपमान करें, तिरस्कार की दृष्टि से देखें, तो यह सब हम कैसे बरदाश्त करेंगे। फौज में भरती होने के लिए इजाजत मांगेंगे। पर उसको मंजूर कैसे करावेंगे? आखिर हम सब इसी नतीजे पर पहुंचे कि कुछ भी हो उसे मंजूर करवाने के लिए प्रयत्न तो खूब करें। काम को करने लगे कि अपने आप नवीन रास्ते सूझते जावेंगे। अगर इच्छा होगी तो परमात्मा अवश्यमेव शक्ति भी देगा। यह चिंता ही न करना चाहिए कि हमें जो काम मिलेगा उसे हम कैसे करेंगे? दिल को मजबूत कर लें, सेवाधर्म स्वीकारने का निश्चय कर लें, तो मान-अपमान का विचार छोड ही देना चाहिए। अपमान सहन करके भी हम सेवा करें।

पर हमारी मांग को स्वीकृत कराने में हमें बेहद मुश्किलों का सामना करना पडा। उसका इतिहास बडा ही दिलचस्प है, पर उसे लिखने के लिए यहां स्थान नहीं है। इसलिए यहांपर सिर्फ यही

कह देना चाहता हूं कि हममें से मुख्य मुख्य पुरुषों ने घायल तथा दर्दियों की शुश्रूषा-परिचर्या करने की शिक्षा ग्रहण की । अपनी शारीरिक स्थिति के विषय में डाक्टरों से प्रमाणपत्र प्राप्त किये, और लडाई पर जाने के लिए की गई मांग को सरकार ने मंजूर कर लिया । इस पत्र और उसके साथ की गई प्रार्थना स्वीकार करने के आग्रह का बहुत अच्छा असर पडा । पत्र के उत्तर में सरकार ने अहसानमंदी जाहिर की । पर उस समय उसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया । इस बीच बोअरों का बल बढता जा रहा था। उनका फैलाव तो एक बडी रेलवे लाईन का सा हो गया । यह भय होने लगा कि वे नेटाल की राजधानी तक कहीं न चले आवें । हताहतों की संख्या बहुत बढ गई । आखिर ऐंम्ब्युलन्स कोर (घायलों को उठा ले जाकर उनकी सेवा सुश्रूषा करने वाला दल) के बतौर हम रख लिये गये । हमने तो यहांतक लिख भेजा था कि दवाखानों में पाखाना साफ करने, झाडू बुहारा करने के लिए भी हम तैयार हैं । फिर सरकार ने जब एम्ब्युलन्स कोर में हमे काम करने के लिए रख लिया, यह बात हमें स्वागत करने योग्य मालूम हो तो कौन बडे आश्चर्य की बात है । हमारा जो कुछ कहना था वह स्वतंत्र और गिरमिट-मुक्त भारतीयों के विषय में था । हमने तो यह भी सूचना की थी कि यदि गिरमिटियाओं को भी इसमें शामिल कर दिया जाय तो अच्छा होगा । इस समय तो सरकार को जितने आदमी मिलते उतने ही थोडे थे । इसलिए तमाम कोठियों में निमन्त्रण भेजे गये । फल यह हुआ कि भारतीयों को शोभने योग्य ११०० आदमियों की विशाल टुकडी डर्बन से रवाना हुई । वह जब रवाना हुई तब मि. ऐस्कंब ने, जिनके नाम से पाठक परिचित हैं और जो नेटाल के गोरे स्वयंसेवकों के अधिकारी थे

हमें धन्यवाद और आशीर्वाद दिये।

अंगरेजी अखबारों को तो यह एक चमत्कार जैसा ही मालूम हुआ। वे यह आशा रखते ही न थे कि भारतीय लोग भी लडाई में कोई काम करेंगे। किसी अंगरेज ने वहां के एक अखबार में एक स्तुति-काव्य लिखा था जिसकी टेक की एक लाइन का अर्थ है "आखिर हम सब एक ही राज्य के तो बालक हैं।"

इस दल में लगभग ३०० से ४०० तक गिरमिट-मुक्त भारतीय थे जो स्वतंत्र भारतीयों की हलचल से एकत्र हुए थे। उनमें ३७ नायक माने जाते थे। क्योंकि इन लोगों के दस्तखत की दरख्वास्त सरकार के पास गई थी। और दूसरे को इकट्ठा करनेवाले भी ये ही थे। नायकों में बैरिस्टर मेहता वगैरा थे। दल में कारीगर लोग-मस्लन् मिस्त्री, बढई राच वगैरा थे। इनमें हिन्दू, मुसलमान मद्रासी, उत्तरीय भारत के निवासी आदि सब वर्ग के लोग थे। हां; यह कह सकते हैं कि व्यापारियों में से कोई न था। पर उन्होंने आर्थिक सहायता जरूर अच्छी की थी।

इतने बडे दल को फौजी भत्ते के अतिरिक्त भी तो कई प्रकार की आवश्यकतायें होती हैं। और अगर वे पूरी हो जायं तो इस कष्ट कर फौजी जीवन में भी कुछ आराम मिल सकता हैं, उनको दूर करने का काम व्यापारीवर्ग ने अपने सिर ले लिया। और इसके साथही साथ जिन आहतों की हमें सेवा-शुश्रूषा करना पडती थी उनके लिए भी मिठाई, बीडी वगैरा दे कर उन्होंने अच्छी सहायता की। जिन जिन शहरों के पास हमने अपने मुकाम किये थे वहां वहां के व्यापारीवर्ग ने हमारी इसी तरह पूरी सहायता की थी।

हमारी टुकडी में जितने गिरमिटिया आये थे उनके लिए

उनकी कोठियों से अंगरेज नायक भेजे गये थे। पर सब का काम तो एक ही था। सब को एक साथ ही रहना पडता था। इसलिए ये गिरमिटिया हमें देख कर बडे खुश हुए। और एक पूरे दल की व्यवस्था अनायास हमारे ही हाथों में आ गई। इसलिए वह सारी टुकडी भारतीयों की ही कहलाने लगी। और उसका यश भी उन्हींको प्राप्त हुआ। सच पूछा जाय तो गिरमिटियाओं के उसमें शामिल होने का श्रेय केवल भारतीयों को ही नहीं प्राप्त होता। वह तो कोठीवालों को ही मिलेगा। हां, यह बात जरूर सच है कि दल संगठित होने पर उसकी सुव्यवस्था का यश अवश्य स्वतंत्र भारतवासियों को मिलेगा और तदनुसार जनरल बूलर ने अपने खरीतों में इस बात का उल्लेख भी किया है। आहतों की शुश्रूषा की हमें शिक्षा देने वाले डाक्टर बूथ भी हमारे ही साथ में थे। ये बडे अच्छे पादरी सज्जन थे। और भारतीय ईसाइयों में काम करते समय सबमें मिलकर रहते थे। ऊपर मैंने जो ३७ नाम बताये उनमें से बहुत से इनके शिष्य थे। भारतीयों के शुश्रूषा-दल के ही जैसा एक यूरोपियनों का दल भी बनाया गया था। दोनों को एक ही स्थान पर काम करना पडता था।

हमने अपनी ओर से कोई शर्त नहीं लगाई थी। पर स्वीकृत्ति पत्र में यह लिखा हुआ था कि बंदूक और तोप के मारे की हद में हमें न जाना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि रणक्षेत्र पर जो सिपाही आहत हों उनको फौज के साथ में रहनेवाला कायमी शुश्रूषा-दल उठा कर फौज के पीछे ले जा कर रख दिया करे। गोरों का और हमारा यह तात्कालिक दल इसलिए बनाया गया था कि जनरल बूलर लेडी स्मिथ में घिरे हुए जनरल व्हाइट

को छुडाने के लिए महाप्रयत्न करने वाले थे। और उन्हें यह भय था कि वहां इतने लोग आहत होंगे कि कायमी दल से वह काम नहीं संभलेगा। लडाई ऐसे क्षेत्र में चल रही थी कि जहांपर युद्ध क्षेत्र और छावनी के दरम्यान जाने आने के लिए पक्के रास्ते भी नहीं थे। इसलिए आहतों को इक्का घोडा-गाडी वगैरा में भी नहीं ले जाया जा सकता था। छावनी अक्सर किसी न किसी रेलवे स्टेशन के नजदीक रक्खी जाती था और यह साधारणतया युद्ध क्षेत्र से सात आठ मील और कभी कभी तो २५ मील तक दूर रहती था।

हमें काम तो शीघ्र ही मिल गया और सो भी हमने सोच रक्खा था उससे कठिन। सात सात आठ आठ मील तक आहतों को उठा ले जाना यह तो कोई विशेष कठिन बात नहीं थी। पर हमें तो पचीस पचीस मील तक और सो भी भयंकररूप से आहत सैनिकों और सेनाधिकारियों को उठाकर ले जाना पडता था। रास्ते में उन्हें दवा भी देना पडती थी। सुबह ८ बजे से कूच करके शाम के पांच बजे तक छावनी में पहुंच जाना पडता था। यह कोई आसान बात नहीं थी। एक ही दिन में घायल को पचीस मील तक उठाकर ले जाने का मौका तो एक ही बार आया। फिर पहले पहल सरकार की हार पर हार होती गई। घायलों की संख्या खूब बढ गई। इसलिए हमें युद्धक्षेत्र में न ले जाने की बात को अधिकारियों को भूल जाना पडा। पर मुझे यहांपर यह जरूर कह देना चाहिए कि जब ऐसा प्रसंग आया तब हम सबको बुलाकर कह दिया गया था कि आपके साथ जो शर्तें की गई हैं, उनमें यह लिखा गया है कि आपको ऐसी जगह नहीं जाना पडेगा जहांपर तोप और बंदूकों के गोले गिर रहे हों। इसलिए यदि

आप अपने को ऐसे खतरे में न डालना चाहते हों तो जनरल बूलर यह बिल्कुल नहीं चाहते कि आपको उसके लिए मजबूर किया जाय। पर यदि आप इस समय इस बात से न डर कर उसका सामना करने के लिए तैयार हो जायं तो सरकार आपका बहुत अहसान मानेगी। हम तो खतरे का सामना करना ही चाहते थे। बाहर रहना तो हमें पहले ही से नापसंद था। इसलिए इस प्रसंग का सबने स्वागत किया। किसीको न तो गोली लगी, और न अन्य किसी प्रकार की चोट पहुंची।

हमारे दल के अनेक अनुभव रसमय और मनोरंजक हैं। पर उन सबको लिखने के लिए यहां पर स्थान कहां? तथापि इतना तो कह देना जरूरी है कि अनघड माने जानेवाले गिरमिटिया भी जिस दल में थे उसे तात्कालिक गोरे दल के तथा काली फौज के गोरे सिपाइयों के साथ रहने का प्रसंग कई बार आता था। तथापि हमें कभी ऐसा नहीं मालूम हुआ कि गोरे हमारे साथ असभ्यता-पूर्वक पेश आ रहे हैं अथवा हमें तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। गोरे के तात्कालिक दल में तो दक्षिण आफ्रिका में बसे हुए गोरे लोग ही थे। लडाई के पहले वे भारतीयों के खिलाफ चलनेवाली हलचल में भाग ले रहे थे। पर इस समय तो इस कल्पना ने कि इस आपत्काल में भारतीय लोग अपने जातीय दुखों को भूल कर भी हमारी सहायता के लिए दौड पडे हैं, उनके हृदय को पानी पानी कर दिया था। मैं पहले यह कही चुका हूं कि जनरल बूलर ने अपनी विलायती डाक में हमारे काम की तारिफ की थी। दल के उन ३७ नायकों को लडाई के चांद भी दिये गये थे।

लेडी स्मिथ पर अधिकार करने के लिए जनरल बूलर ने जो आक्रमण किया था वह पूरा होते ही—अर्थात् दो महीने के अंदर ही हमारे तथा गोरों के दल को छुट्टी दे दी गई। इसके बाद भी

लडाई बहुत दिन तक चलती रही। हम तो चाहते थे कि हमें और मौका दिया जाय और छुट्टी देते समय हमें यह कहा भी गया था कि अगर फिर ऐसी ही जबरदस्त हलचल करने का मौका आवेगा तो सरकार आपका उपयोग अवश्य करेगी।

दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों ने इस लडाई में जो सहायता की थी वह यों देखा जाय तो बहुत अल्प मालूम होगी। उसमें जान का खतरा तो जरा भी न था। तथापि शुद्ध इच्छा का असर जरूर होता है। फिर यदि वह ऐसे समय अनुभूत हो जब किसीने उसकी अपेक्षा भी न की हो और न आशा, तब तो उसकी कीमत दूनी मानी जाती है। लडाई के वक्त भारतीयों के विषय में उसी सद्भावना का वायुमण्डल चारों ओर पाया जाता था।

यह अध्याय पूरा करने के पहले मुझे एक जानने योग्य बात जरूर कह देनी चाहिए। लेडी स्मिथ में घिरे हुए आदमियों में अंगरेजों के साथ साथ वहींके रहनेवाले कुछ रहेसहे भारतीय भी थे। इनमें व्यापारी, गिरमिटिया, रेल्वे में काम करनेवाले अथवा गोरे गृहस्थों के यहां काम करनेवाले नोकर वगैरा भी थे। उनमें परभूसिंग नामक गिरमिटिया भी था। घिरे हुए आदमियों को ऊपर के अधिकारी कोई न कोई काम तो जरूर देते ही हैं। ऐसा ही एक बडा ही खतरनाक और उतना ही महत्त्वपूर्ण काम कुली कहे जानेवाले परभूसिंग को भी सौंपा गया। लेडी स्मिथ के नजदीक की एक टेकडी पर बोअरों की पौम पौम नाम की एक तोप रक्खी हुई थी। उसके गोलों से बहुत से मकान नष्ट हो चुके थे और कितनी ही जानें भी चली गई थीं। तोप से गोला छूटे और अपने लक्ष्य पर पहुंचे इतने में कम से कम एक दो मिनट तो अवश्य ही निकल जाते हैं। अगर घिरे हुए लोगों को इतने समय का उपयोग

करने का मौका मिल सके तब तो वे उसमें कुछ न कुछ छिपने के लिए आड ढूंढ लें और अपनी जान बचा सकें। परभूसिंग को एक झाड के नीचे बैठने के लिए कहा गया था। तोप चलना शुरू होती तब से ले कर जबतक वह चला करती तबतक उसे वहां बैठना पडता था। उसका काम था उस तोपवाली टेकरी पर नजर रखना और जहां गोला छूटने का भडका देखा कि अपना घंट बजा देना। बस इसे सुनते ही जिस तरह चूहे बिल्ली को देख कर अपने अपने बिल में भाग जाते हैं ठीक उसी तरह बेचारे नगरबासी उस मारक गोले के आगमन की सूचना पाते ही अपनी छिपने की जगह में छिप जाते और अपनी जान बचाते।

परभूसिंग की इस अमूल्य सेवा की तारीफ करते हुए लेडी स्मिथ के अधिकारी लिखते हैं कि उसने वह काम इतनी निष्ठापूर्वक किया कि वह एक बार भी घंट बजाना नहीं भूला। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वयं परभूसिंग को तो हमेशा खतरे में ही रहना पडता था। न केवल यह बात नेटाल में प्रकाशित की गई बल्कि ठेठ लार्ड कर्जन के कानों तक भी वह पहुंच गई। उन्होंने परभूसिंग की इस बहादुरी के उपलक्ष्य में उसे भेट करने के लिए एक कश्मीरी जभ्भा भेजा और नेटाल सरकार को लिखा कि हो सके उतने जाहिरा तौर से इसका कारण जनता को बता कर यह वस्तु परभूसिंग को भेट की जाय। यह काम डर्बन के मेयर के जिम्मे किया गया था। डर्बन के टाउन हाल के कोन्सिल चेम्बर में एक सार्वजनिक सभा निमंत्रित की गई और उसमें परभूसिंग को वह वस्तु भेट की गई। यह दृष्टांत हमें दो शिक्षायें देता है, एक तो यह कि किसी भी मनुष्य को हम तुच्छ न समझें और दूसरा यह कि भीरू से भीरू आदमी भी अवसर प्राप्त होते ही वीर बन सकता है।

अध्याय १०

युद्ध के बाद

मुख्य लडाई तो सन १९०० में पूरी हो गई थी। इस बीच लेडीस्मिथ, किंबरली और मेफेकिंग आदि छुडा लिये गये थे। बोअरों ने संस्थानों से जितना कुछ मुल्क जीता था वह फिर वापिस ले लिया गया। अब तो केवल वानरयुद्ध (गोरीला वार फेअर) ही बच रहा था। ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट पर भी लार्ड किचनर ने अपना कब्जा कर लिया था।

मैंने सोचा कि अब यह कहा जा सकता है कि दक्षिण आफ्रिका में मेरा काम समाप्त हो गया। एक महीने के बदले मैं छः बरस रह चुका। कार्य की रूपरेखा भी बंध गई। तथापि बिला अपनी कौम की इजाजत के मैं कदापि नहीं जा सकता था। मैंने अपने साथियों से भारत में सेवा करने का अपना हेतु प्रकट किया। स्वार्थ के बदले सेवा-धर्म का पाठ मैं दक्षिण आफ्रिका में पढ चुका था। बस, अब उसीकी लगी थी। मनसुखलाल नाजर दक्षिण आफ्रिका में थे ही। खान भी वहीं थे। खास दक्षिण आफ्रिका से शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लेंड गये हुए कितने ही

नौजवान बेरिस्टर होकर वापिस भी लोट आये थे। अर्थात् इस समय मेरा स्वदेश को लोट जाना किसी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता था। ये सब दलीलें पेश करने पर भी मुझे केवल इस शर्त पर वहां से छुट्टी मिली कि आफ्रिका में यदि कोई अकल्पित आपत्ति आ गिरे और मेरी वहां आवश्यकता हो तो कौम मुझे जिस समय वह चाहे वापिस बुला सकती है और मुझे भी उसी वक्त लौट जाना चाहिए। मुसाफरी और वहां रहने का खर्च मात्र कौम को जमा कर देना चाहिए। इस शर्त पर मैं वापिस लौटा।

स्वर्गीय गोखले की सलाह से और उनकी छत्र छाया में सार्वजनिक काम करने के हेतु से, पर साथ ही आजीविका भी प्राप्त करने की इच्छा से मैंने यह तय किया कि मैं बम्बई में ही बैरीस्टरी करूं। चेम्बर भी लिये। कुछ कुछ वकालत चलने लगी। दक्षिण आफ्रिका से मेरा इतना घनिष्ट संबंध हो चुका था कि सीर्फ दक्षिण आफ्रिका से लौटे हुए मवक्किल ही मुझे इतना दे सकते थे जिससे मैं अपना खर्चा भली भांति चला सकता था। पर मेरे भाग्य में यह कहां लिखा था कि मैं एक जगह शान्ति के साथ बैठ सकूं। मुश्किल से मैं बंबई में शांति के साथ तीन चार महीने रहा हूंगा कि आफ्रिका से तार आया—"परिस्थिति गम्भीर है। मि. चेम्बरलेन शीघ्र ही आ रहे हैं। आपकी उपस्थिति की आवश्यकता है।"

बम्बई के आफिस और घर को बटोरा और पहली ही स्टीमर से मैं रवाना हुआ। सन १९०२ का आखिर था। १९०१ के आखिर में मैं भारत लौटा था। १९०२ के मार्च-अपरैल में बम्बई में मैंने अपना आफिस खोला था। केवल तार पर से मैं अधिक नहीं जान सकता था। मैंने यह अंदाज किया

कि गडबडी है कहीं ट्रान्सवाल में ही। पर इस ख्याल से कि चार छः महीने के अंदर ही लौट आऊंगा मैं बालबच्चों को यहीं छोड कर अकेला ही रवाना हो गया। डर्बन पहुंचते ही सारे वर्तमान सुन कर मैं तो स्तब्ध सा हो गया। हम सबका यही खयाल था कि लडाई के बाद दक्षिण आफ्रिका भर में भारतीयों की स्थिति अच्छी हो जायगी। ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। क्योंकि लार्ड लैन्सडाऊन, लार्ड शेल्बर्न, वगैरा बडे बडे अधिकारी कहा करते थे कि भारतीयों की दुर्दशा भी लडाई का एक कारण है। प्रिटोरिया का ब्रिटिश राजदूत भी मुझसे कई बार कह चुका था कि ट्रान्सवाल ब्रिटिश कालोनी हुवा नहीं कि भारतीयों के तमाम दुःख दूर हुए नहीं। गोरे लोग भी यही मानते थे कि राज्यसत्ता यदि बदल गई तो वहांके पुराने कानून भारतीयों को कभी नहीं लगाये जा सकते। यह बात यहांतक सर्वमान्य हो चुकी थी कि लडाई के पहले जमीन का नीलाम पुकारने वाले जो गोरे लोग भारतीयों की बोली स्वीकार ही नहीं करते थे वे भी उसे अब स्वीकार करने लग गये थे। और कितने ही भारतीयों ने तदनुसार नीलाम में जमीनें खरीदीं भी। पर जब वे महसूली कचेरी में जमीन का दस्तावैज रजिस्टर कराने के लिए गये कि फौरन् १८८५ का कानून महसूली अधिकारी ने उनके सामने खडा कर दिया और जमीन का रजिस्टर करने से इन्कार कर दिया। डर्बन उतरते ही मैंने यह सुना। नेताओं ने मुझसे कहा कि आपको ट्रान्सवाल जाना होगा। पहले तो मि. चेम्बरलेन यहां आवेंगे। यहांकी परिस्थिति से भी उन्हें परिचित कर देना आवश्यक है। बस, यहां का काम समाप्त हुआ कि उनके ही पीछे पीछे आपको ट्रान्सवाल जाना होगा।

नेटाल में मि. चेम्बरलेन से एक डेप्यूटेशन (शिष्ट-मंडल) मिला। उन्होंने तमाम हकीकत विनयपूर्वक सुन ली और यह वचन दिया कि मैं नेटाल के सचिव-मंडल से इस विषय में बातचीत करूंगा। लडाई के पहले नेटाल में बने हुए कानून में किसी परिवर्तन होने की मैंने कोई आशा न की थी। इन कानूनो का वर्णन तो पिछले अध्यायों में पाठक पढ ही चुके हैं।

पाठकों को अवश्य याद होगा कि लडाई के पहले ट्रान्सवाल में हरएक हिन्दी, जिस समय वह चाहे, जा सकता था। पर अब मैंने देखा कि वैसे न था। तथापि उस समय जो प्रतिबंध-रुकावट थी वह गोरे और हिन्दू सबके लिए एकसी थी। अभीतक यह स्थिति थी कि अगर बहुत से आदमी ट्रान्सवाल में घुस जायं तो सबको पूरे अन्नवस्त्र भी नहीं मिलें। क्योंकि लडाई के कारण दूकानें बंद थीं। दूसरे, दूकानों में का अधिकतर माल बोअर सरकार ही समाप्त कर गई थी। इसलिए मैंने अपने दिल में यह सोचा कि यदि यह रुकावट कुछ थोडे ही दिनों के लिए हो तो कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं। पर गोरों और भारतीयों को ट्रान्सवाल में जाने के लिए जो परवाना दिया जाता था उसकी रीति-नीति में कुछ भेद था। और इसी बात ने मुझे शंका और संशय में डाल दिया। परवाना देने के आफिस दक्षिण आफ्रिका के भिन्न भिन्न बंदरों में खोले गये थे। गोरों को तो मांगते ही परवाना मिल सकता था। पर भारतीयों के लिए मात्र ट्रान्सवाल में एक ऐशियाटिक महकमा खोल दिया गया था।

यह महकमा एक बिल्कुल नयी बात थी। इस महकमे के अधिकारी को भारतीयों को अर्जी देना पडती थी। इस अर्जी के मंजूर होने पर डर्बन अथवा अन्य बंदरों से वह साधारण परवाना

मिल सकता था। अगर मैं भी इसी प्रकार बढता तब तो मि. चेम्बरलेन के ट्रान्सवाल छोड कर चले जाने के पहले मुझे परवाना मिलने की आशा न करनी चाहिए थी। न ट्रान्सवाल के भारतवासी मेरे लिए ऐसा परवाना लेकर भेज सके थे। यह उनकी शक्ति के बाहर की बात थी। मेरे परवाने के लिए तो वे पूर्णतः मेरी डर्बन की पहचानों के ऊपर निर्भर थे। परवाना देने वाले अधिकारी को मैं नहीं जानता था। पर डर्बन के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट को मैं अवश्य जानता था। इसलिए उनको मैं साथ ले गया और उनके द्वारा उन्हें अपनी पहचान दे दी। ट्रान्सवाल में मैं १८९३ में एक साल तक रह चुका हूं यह बता कर परवाना लेकर मैं प्रिटोरिया पहुंचा।

यहांपर मैंने एक बिल्कुल भिन्न वायुमण्डल देखा। मैंने यह देखा कि ऐशियाटिक विभाग एक भयंकर विभाग है और वह केवल भारतीयों को दबाने के लिए ही खोला गया है। उसके अधिकारी वे लोग थे जो लडाई के समय भारत से फौज के साथ आये थे, और लडाई समाप्त होने पर दक्षिण आफ्रिका में अपनी किस्मत आजमाने के लिए रह गये थे। उनमें से अधिकांश रिश्वतखोर थे। विशेषतः दो पर तो इस अपराध के लिए काम भी चलाया गया था। पंचों ने तो उन्हें छोड दिया था। पर चूंकि उनके रिश्वत लेने के विषय में कोई सन्देह नहीं था, वे डिसमिस कर दिये गये थे। पक्षपात की कोई हद ही नहीं थी। फिर जहांपर एक ऐसा महकमा बिलकुल नया नया खोला गया हो, और सो भी किसी जाति के स्वत्वों पर प्रहार करने के लिए, वहां तो अपनी सत्ता कायम रखने के लिए और उसके साथ ही साथ दूसरी जाति के हकों को कुचलने के अपने कर्तव्य में कुशलता दिखाने के लिए

मनुष्य अन्यायपूर्ण अधिकार के नित्य नये नये शस्त्र ही ढूंढता है। ठीक यही हाल यहां भी हुए।

मैंने देखा कि मुझे फिर से नई स्लेट पर श्री गणेश करने होंगे। एशियाटिक विभाग को इस बात का जल्दी पता न लगा कि मैं ट्रान्सवाल में किस प्रकार प्रवेश पा सका। यह बात मुझे पूछने की सहसा किसीको हिम्मत ही नहीं पडी। मैं मानता हूं कि उन्हें यह जरूर विश्वास होगा कि मैं छिप कर तो हरगिज न आया हूंगा। आखिर अप्रत्यक्ष रीति से उन्होंने यह पता लगा लिया कि मैं किसतरह परवाना प्राप्त कर सका। प्रिटोरिया का डेप्यूटेशन (शिष्ट-मंडल) भी मि. चेम्बरलेन से मिलने के लिए तैयार हो गया। उनके सामने पेश करने के लिए एक अर्जी भी लिख ली गई। पर एशियाटिक विभाग ने मेरा उनसे मिलना बंद करवा दिया। भारतीय नेताओं ने सोचा कि इस हालत में उनको भी न जाना चाहिए। मुझे यह विचार पसंद नहीं आया। मैंने उन्हें कहा कि मेरे इस अपमान को मुझे और उन्हें भी बरदाश्त कर लेना चाहिए। मैंने यह भी कहा कि काम की अर्जी तो हुई है। बस, इसे ही मि. चेम्बरलेन को सुना दीजिए। एक भारतीय बैरिस्टर ज्योर्ज गाड फ्रे वहीं हाजिर थे। उन्हें मैंने अर्जी पढने के लिए तैयार किया। डेप्पूटेशन गया। मेरे बिषय में भी बात निकली। मि० चेम्बरलेन ने कहा कि "मि० गांधी को तो मैं डर्बन में एक बार मिल चुका था। इसलिए मैंने यही उचित समझा कि यहां की स्थिति यहीं के लोगों के मुंह से सुननी चाहिए और इसीलिए मैंने उन्हें मिलने से इनकार कर दिया था"। मेरी दृष्टि से इसने आग में घी का काम किया। मि० चेम्बरलेन वही बोले जो ऐशियाटिक विभाग ने उन्हें पढा रक्खा

था। जो हवा भारत में बह रही है वही एशियाटिक विभाग ने ट्रान्सवाल में बहाई। गुजराती लोग इस बात को तो अवश्य ही जानते होंगें कि चम्पारन में रहनेवाले अंगरेज बम्बई के निवासियों को परदेशी समझते हैं। इसी प्रकार ऐशियाटिक विभाग ने मि० चेम्बरलेन को पढाया कि मैं डर्बन का निवासी—ट्रान्सवाल की बीती कैसे जान सकता हूं? उसे यह कब पता था कि मैं ट्रान्सवाल में रह चुका हूं और अगर वहां न भी रहा होता तो भी ट्रान्सवाल की परिस्थिति से मैं पूरी तरह परिचित था। पर सवाल तो केवल यही था कि ट्रान्सवाल की परिस्थिति से सबसे अधिक परिचित कौन था? इस बात का उत्तर भारतियों ने मुझे ठेठ भारत से बुला कर दे दिया था। किन्तु हमारे लिए यह कोई नवीन बात नहीं कि शासकों के आगे न्याय की दृष्टि कोई काम नहीं देती। मि० चेम्बरलेन इस समय इसतरह स्थानीय ब्रिटिश सचिवों के पंजे के नीचे थे, और गोरों को संतुष्ट करने के लिए इतने आतुर थे कि इनसे न्याय मिलने की आशा लेश भर भी हमें नहीं थी—अथवा बहुत थोडी थी, पर फिर भी उनके पास डेप्पूटेशन इसलिए भेजा था कि भूल कर भी या स्वाभिमान के कारण न्याय प्राप्त करने में एक भी योग्य कदम लेने में कहीं गफलत न हो।

पर मेरेलिए तो इसबार १८९४ की अपेक्षा भी अधिक विषम प्रसंग उपस्थित हो गया। एक तरफ से विचार करते हुए मुझे मालूम हुआ कि मि०चेम्बरलेन ने इधर पीठ की नहीं कि मैं भारत वापिस लौटा नहीं। दूसरी दृष्टि से विचार करते हुए मैंने अच्छी तरह से यह देख लिया कि यह जानते हुए भी कि कौम भयंकर स्थिति में है, मैं भारत में सेवा करने के अभिमान से अगर वापिस लौट जाऊंगा तो जिस सेवा-धर्म की झांकी मैंने देखी थी

उसे मैं अवश्य दूषित कर दूंगा। आखिर मैंने यह सोचा कि परवा नहीं यदि जीवनभर यहीं दक्षिणी अफ्रिका में रहना पडे, पर या तो जबतक आकाश में मंडराते हुए विपत्ति के बादल छिन्न भिन्न नहीं हो जाते या हमारे हजार प्रयत्न करने पर भी वे और भी अधिक संख्या में एकत्र होकर कौम पर नहीं टूट पडते और हम सब उसमें नहीं मर मिटते तबतक मुझे ट्रान्सवाल में ही रहना चाहिए। भारतीय नेताओं से मैंने इसी तरह कहा। १८९४ की तरह वकालत करके अपना निर्वाह करने का अपना निश्चय भी मैंने उन्हें कह सुनाया। कौम तो यही चाहती थी।

फौरन् मैंने ट्रान्सवाल में वकालत के लिए अर्जी पेश की थी। मुझे यह जरूर शक था कि शायद यहां भी वकीलमंडल मेरी अर्जी का विरोध करेगा पर वह निर्मूल साबित हुआ। मुझे सनद दी गई और जोहान्सबर्ग में मैंने अपना आफिस खोल दिया। ट्रान्सवाल भर में भारतीय सबसे अधिक संख्या में जोहान्सबर्ग में ही बसते थे। इसलिए मेरी आजीविका और समाजसेवा इन दोनों दृष्टियों से जोहान्सबर्ग ही अनुकूल केन्द्र था। दिन ब दिन एशियाटिक आफिस की गंदगी का अधिकाधिक कटु अनुभव मैं ले रहा था और वहांके तमाम भारतीय समाज का पूरा बल इस गंदगी को दूर करने ही की ओर लगाया जा रहा था। अब १८८५ के कानून को रद करना तो दूर की बात हो गई थी। इस समय तो सबसे अधिक महत्व की बात यही थी कि एशियाटिक आफिस रूपी भयंकर बाढ से अपनेको कैसे बचावें। लार्ड मिल्नर, लार्ड शेल्बर्न जो वहां आये थे, सर आर्थर लाली जो ट्रान्सवाल में लेफ्टेन्ट गवर्नर थे और बाद मदरास के गवर्नर भी हो गये थे, उनके पास और उनसे नीचे की श्रेणी के अधिकारियों के पास भी

डेप्यूटेशन गये और उनसे मिले । स्वयं मैं भी कई बार मिलता । कुछ कुछ रियायत भी मिलती । पर यह सब तुच्छ था । डाकू जिस प्रकार अपना सर्वस्व हरण कर लेते हैं और हमारे गिडगिडाने पर ही केवल उसमें से कुछ अंश हमें लौटा देते हैं और हम उसमें संतोष मान लेते हैं, ठीक ठीक वैसा ही संतोष कई बार मान लेना पडता था। इस हलचल के कारण जिन अधिकारियों के डिसमिस होने के विषय में मैं लिख गया हूं उनपर काम भी चलाया गया । भारतीयों के प्रवेश के विषय में जो भय या शंका मुझे उस समय हुई थी वह भी सच्ची साबित हुई । गोरों को परवाने लेने का अब कोई काम न रहा । पर भारतीयों के लिए तो वह कानून वैसे ही जारी रहा। ट्रान्सवाल की भूतपूर्व सरकार ने इस विषय में जितना सख्त कानून बनाया था उतनी ही सख्ती के साथ उस समय उसपर अमल नहीं किया जाता था पर इसका कारण न तो उसकी उदारता थी और न भलमनसाहत। यथार्थ में कारण अमली विभाग की ही लापरवाही थी । पर अगर वे अधिकारी भले होते तो भूतपूर्व सरकार की अधीनता में उन्हें भलमनसाहत दिखाने का जितना अवकाश मिल सकता था उतना ब्रिटिश सरकार की अधीनता में कभी नहीं मिल सकता था । ब्रिटिश तंत्र पुराना है अतएव दृढ है, व्यवस्थित है, और उसके अधिकारियों को यंत्र की तरह काम करना पडता है। क्योंकि उनपर एक के बाद एक चढते और उतरते हुए अंकुश रहते हैं। इसलिए यदि ब्रिटिश शासनाधीन पद्धति उदार हो तो जनता को एक उदार पद्धति का अधिक से अधिक लाभ मिल सकता है । यदि वह जुल्मी या कंजूस हो तो इस नियंत्रित सत्ता की अधीनता में वह प्रजा पूरी तरह दब कर पिस जाती है। ठीक इसके विपरीत स्थिति ट्रान्सवाल की

भूतपूर्व शासन संस्था जैसी सत्ता की अधीनता में होती है। उदार कानून के लाभ का मिलना न मिलना हर विभाग के अधिकारियों के ऊपर अवलंबित है। इसी कारण को लेकर जब ट्रान्सवाल में ब्रिटिश सत्ता कायम हुई तब भारतियों से सम्बन्ध रखनेवाले जितने कानून थे उन सबका प्रयोग उत्तरोत्तर अधिकाधिक सख्त होने लग गया। पहले जहां दोष थे वे सब अब दूर कर दिये गये। हम यह तो पहले ही देख चुके हैं कि एशियाटिक विभाग का उद्देश सख्त ही हो सकता है इसलिए यह विचार तो एक ओर रहा कि पुराने कानूनों को किस प्रकार रद किया जाय। बेचारे भारतियों के नसीब में तो अभी यही सोचना बदा था कि कानून की सख्तियों को सौम्य बनाने के लिए किस प्रकार उद्योग किया जाय।

आगे पीछे हमें एक सिद्धान्त की चर्चा जरूर ही करनी होगी। और यदि वह यहीं कर लें तो इससे आगे की परिस्थिति और भारतीयों का दृष्टि-बिन्दु आसानी से ख्याल में आ जायगा। ज्योंही ब्रिटिश-झण्डा ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में फहराने लगा त्योंही लार्ड मिल्नर ने एक कमिटि बनाई। उसका उद्देश था दोनों राज्यों के पुराने कानूनों को जांच कर उनमें से जो कानून प्रजा की स्वाधीनता को हानिकर हो अथवा ब्रिटिश शासन रहस्य के विपरीत हो उनको नोट कर लेना। इसमें स्पष्ट रूप से भारतीयों की स्वाधीनता पर आक्रमण करनेवाले कानूनों का समावेश भी हो सकता था। पर यह कमिटि बनाते हुए लार्ड मिल्नर का उद्देश भारतीयों के दुःखों का निवारण नहीं किन्तु अंगरेजों के दुःखों का निवारण था। उनका यह हेतु था कि जिन कानूनों से अंगरेजों को अप्रत्यक्ष रूप से भी हानि होती हो उनको जितनी शीघ्रता से

हो सके निकाल डालें। कमिटि का रिपोर्ट बहुत ही थोडे समय में तैयार हो गया। और छोटेबडे बहुत से कानून जो अंगरेजों के विरोधी थे सब एक ही हुक्म के द्वारा प्रायः रद कर दिये गये।

इसी कमिटि ने वे कानून भी छांट लिए जो भारतीयों के खिलाफ थे। और वे एक पुस्तक के रूप में छाप दिये, और एशियाटिक विभाग ने उनका उपयोग अथवा हमारी दृष्टि से कहे तो आसानी से दुरुपयोग करना शुरू भी कर दिया।

अब भारतीयों के विरोधी कानूनों में उनका नाम निर्देश करके केवल उन्हींके खिलाफ कानून न बनाते हुए यदि इस तरह उनकी रचना की जाती कि वे सबके लिए एकसा लागू किये जा सकें, सिर्फ उनपर अमल करना न करना अधिकारियों की पसंदगी पर ही छोड दिया जाता, अथवा वे इस तरह बनाये जाते कि उनका सार्वजनिक अर्थ तो सबके लिए लागू होता पर कटाक्ष भारतीयों पर अधिक होता, तो ऐसे कानूनों से भी उनके रचयिता की अभिष्ट सिद्धि हो सकती थी। और इतना होते हुए भी वे सार्वजनिक कहे जाते। इससे किसीका अपमान भी न होता। फिर आगे चल कर यदि विरोधी-भाव मंद होता तो बिना कानून में किसी प्रकार के रद्दोबदल के केवल उसके उदार उपयोग से जिस किसीके खिलाफ वह बनाया गया हो वह बच जाता। जिस प्रकार दूसरी श्रेणी के कानूनों को मैंने सार्वजनिक कहा उसी प्रकार पहली श्रेणी के कानूनों को एकदेशी, कौमी अथवा जातिगत कानून कह सकते हैं। दक्षिण आफ्रिका में उसे 'रंगभेदी' कानून कहा जाता है। क्योंकि उसमें रंग-भेद को याद रखते हुए काले अथवा गेंहुए रंग की जातियों पर गोरों की अपेक्षा अधिक सख्ती बताई गई है। इसी का नाम 'कलर-बार' अथव रंगभेद या रंग-द्वेष है।

पहले के बने हुए कानून में से ही एक उदाहरण लीजिए ! पाठकों को यह याद होगा कि नाताल में मताधिकार का जो पहला कानून बनाया गया और आखिर रद हुआ, उसमें एक इस आशय की धारा भी थी कि एशियाटिक मात्र को भविष्य में मताधिकार न दिया जाय । अब यदि इस कानून को रद करना हो तो लोकमत को यहांतक तैयार करना पडे कि वहांके अधिकांश लोग एशिया-वासियों का द्वेष छोड कर उनसे मित्र-भाव रखने लग जायं । जब वह अवसर आवे तभी नवीन कानून की रचना द्वारा वह रंग का कलंक दूर किया जा सके । यह हुआ एकदेशी अथवा रंगभेदी कानून का दृष्टान्त । अब वह कानून रद हो कर जो दूसरा कानून बनाया गया उसमें भी तो वह मूल हेतु (रंगभेद का) लगभग समाविष्ट हो ही गया था । तथापि उसकी शब्द रचना इस प्रकार की गई कि आपत्तिजनक शब्द निकाल कर उसे सार्वजनिक बना दिया गया । उस कानून की धारा का भावार्थ इस तरह है; जिस जाति को पार्लियामेंटरी फ्रेंचाइज—अर्थात इंगलैंड की मुख्य जनसभा के लिए सभासद चुनने का जो मताधिकार है वैसा मताधिकार न हो उसे नाताल में मताधिकार नहीं दिया जा सकता । अब इसमें न कहीं भारतियों का नाम है और न एशिया-निवासियों का । कानून के पंडित इस बात पर अपनी अपनी राय भिन्न भिन्न देंगे कि भारत में इंग्लैंड के जैसा मताधिकार है या नहीं । पर उदाहरण के लिए हम जरा मान लेते हैं कि भारत में उस समय अर्थात १८९४ में मताधिकार न था या आज भी नहीं है, तथापि यदि मताधिकारियों के नाम दर्ज करनेवाला अधिकारी भारतियों के नाम भी लिख ले तो कोई इसपर सहसा यह आक्षेप नहीं कर सकता कि यह "गैर कानून कार्रवाई है ।" सामान्यतः हमेशा प्रजा के अनुकूल ही

अनुमान किया जाता है। इसलिए यदि वहां की सरकार भारतीयों का विरोध न करना चाहे तो उपर्युक्त कानून के होते हुए भी मताधिकार पुस्तक में भारतीयों के नाम लिखे जा सकते हैं। इसलिए मान लीजिए कि यदि नाताल में भारतीयों के प्रति जो विरोध है वह आगे चल कर कभी मंद हो गया, अथवा वहां की सरकार ही को भारतीयों का विरोध न करना हो तो कानून में बिना किसी परिवर्तन के भारतीयों के नाम मत–पुस्तक में लिखे जा सकते हैं। सार्वजनिक कानून में यही विशेषता है। इसी प्रकार अन्य भी कई उदाहरण उन कानूनों से लेकर दिखाये जा सकते हैं जिन्हें पाठक पूर्व अध्यायों में पढ गये हैं। इसलिए चतुर राजनीति तो यही मानी जाती है जो एकदेशी कानून कम से कम बनावे। वह राजनीति तो सर्व श्रेष्ठ है जो बिलकुल ही ऐसे कानून न बनावे। यदि एक बार कोई कानून बन जाता है तो उसे बदलना बहुत मुश्किल है। लोकमत अधिक तैयार होता है तभी कोई कानून बदला जा सकता है। जिस प्रजातंत्र को बार बार अपने कानूनों को बदलना पडता है वह राष्ट्र सुव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता।

अब ट्रान्सवाल में बताये गये एशियाटिक कानून के कालकूट की भयंकरता का नाप हम अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे। वे तो तमाम एकदेशी कानून थे। एशिया–निवासियों को मत देने का अधिकार नहीं, सरकार की बताई सीमा के बाहर वे जमीन नहीं खरीद सकते। जबतक ये कानून रद न हो जायं तबतक वहां के अधिकारीगण भारतीयों की कोई सहायता नहीं कर सकते थे। वे सार्वजनिक न थे इसीलिए तो लार्ड मिलनर की कमीटी उन्हें अलग छांट सकी। पर इसके विपरीत यदि वे सार्वजनिक होते तो अन्य कानूनों के साथ साथ वे कानून भी, जिनमें एशिया–

निवासियों के खिलाफ कोई प्रत्यक्ष कटाक्ष न थे पर उनके प्रतिकूल उनका उपयोग जरूर किया जा रहा था, रद हो जाते। अधिकारी लोग भी उस हालत में ऐसा न कह सकते थे कि "हम क्या कर सकते हैं, लाचार हैं। जबतक धारासभा इन कानूनों को रद नहीं कर डालती तबतक तो उनपर हमें अमल करना ही होगा।"

अब ज्योंही ये कानून ऐशियाटिक आफिस के हाथ लगे त्योंही उसने उनपर पूरा अमल करना शुरू कर दिया। इतना ही नहीं बल्कि यदि सचिव-मंडल सोचे कि ये कानून अमल करने लायक हैं तो उसमें जो त्रुटियां हों या रह गई हों उनको भी सचिव-मंडल को दूर कर देना चाहिए। दलील तो सीधी सादी मालूम होती है। यदि ये कानून खराब हों तो रद कर दिये जायँ, और यदि उचित हों तो इनमें जो दोष रह गये हों उनको दूर कर दिये जायं। सचिव-मंडल ने तो उन कानून पर अमल करने की नीति धारण कर ली थी। भारतीयों ने अंगरेजों के साथ युद्ध में खडा रह कर अपनी जान को खतरे में डाल कर भी काम किया था। यह तो अब तीन चार साल की पुरानी बात हो गई थी। इस बात को भी पुराना राजतंत्र जाने कि भारतीयों के लिए ब्रिटिश राजदूत ने ट्रान्सवाल के साथ लडाई की थी। लडाई के कारणों में ट्रान्सवाल में भारतीयों की खराब स्थिति भी एक कारण था। इस बात को तो उन अधिकारियों ने कहा था जिन्हें न तो स्थानीय अनुभव था और न जिन्होंने दूर दृष्टि से ही काम लिया था। स्थानीय अधिकारियों ने अपने नीजी स्थानीय अनुभव से यह साफ साफ बता दिया कि बोअर राज्य के समय भारतीयों के खिलाफ जो-जो कानून बनाये गये थे वे न तो पूर्ण थे और न पद्धति-

युक्त। सचमुच ब्रिटिश व्यापारी के लिए यह बडी हानिकर बात है कि भारतीय लोग जी चाहे उधर से घुस आवें और उनके दिल में आवे वहां वे अपना मनमाना व्यापार करें। इन सब दलीलों का और ऐसी ही अन्य दलीलों का गोरों और उनके प्रतिनिधियों पर बडा गहरा असर पडा। वे सब यह चाहते थे कि कम से कम समय में अधिक से अधिक जितना धन इकट्ठा कर सकें उतना कर लें। तब वे यह कैसे बरदाश्त कर सकते हैं कि भारतीय भी इसमें अपना हिस्सा बंटा लें। साथ ही उसके, तत्वज्ञान का आडंबर भी शुरू हुआ। दक्षिण आफ्रिका के बुद्धिमान् मनुष्यों को केवल व्यापारी दलील से कैसे संतोष हो सकता है। अन्याय करने के लिए भी बुद्धि हमेशा ऐसी ही दलीलें ढूंढती है जो उसे युक्तियुक्त मालूम हो। यही दक्षिण आफ्रिका में भी हुआ। जनरल स्मट्स वगैरा ने जो दलीलें पेश कीं वे ये हैं:—

"दक्षिण आफ्रिका पश्चिमी सभ्यता का प्रतिनिधि है। भारत पूर्वी सभ्यता का केन्द्र है। इस जमाने के तत्वज्ञानी तो इस बात को कुबूल नहीं करते कि दोनों का कभी मेल हो सकता है। अर्थात् न्यूनाधिक परिमाण में भी यदि इन दो भिन्न भिन्न विरोधी सभ्यताओं की प्रतिनिधि जातियों का संगम हो तो उसका परिणाम सिवा स्फोट अर्थात् लडाई के और कुछ हो ही नहीं सकता। पश्चिम सादगी का विरोध करता है। पूर्व की जातियां सादगी को ही प्राधान्य देती हैं। फिर इन दोनों का मेल ही कैसे हो सकता है। फिर यह देखने का काम राजपुरुषों का अर्थात् व्यावहारिक आदमियों का नहीं कि इन दो सभ्यताओं में कौन सी श्रेष्ठ है। पश्चिम की सभ्यता भली हो या बुरी—पश्चिमी जातियां तो उसे छोडना नहीं चाहती और उसे बचाने के लिए उन्होंने

प्रयत्न भी किया है। खून की नदियां बहाई हैं। अनेक प्रकार के अन्य दुःखों को सहन किया है। अर्थात् अभी यह संभव नहीं कि पश्चिम की जातियां दूसरे किसी मार्ग का अवलंबन कर लें। इस दृष्टि से देखा जाय तो न तो यहां गोरों और भारतीयों का सवाल है, न व्यापार–द्वेष का, और न वर्ण–विद्वेष का ही। यहां तो केवल अपनी सभ्यता की रक्षा का, अर्थात उच्चतम आत्मरक्षा के अधिकार का उपभोग लेने और उसके लिए अपना कर्तव्य पूर्ण करने मात्र का सवाल है। भारतीयों के जो दोष बताये जाते हैं उसका उपयोग भाषणकर्ता जनता को उभाडने के लिए भले ही कर लिया करें पर राजनैतिक दृष्टि से विचार करनेवाला तो यही मानता और कहता है कि भारतीयों के गुण ही दक्षिण आफ्रिका में दोषरूप माने जाते हैं। भारतीयों की सादगी, बहुत समय एकसी मिहनत करने की शक्ति, उनकी मितव्ययता, उनकी परलोक-परायणता और सहनशीलता आदि गुणों के कारण ही दक्षिण आफ्रिका में वे अप्रिय हो गये हैं। पश्चिम की जातियां साहसी अधीर, सांसारिक आवश्यकताओं को बढाने और उन्हें पूर्ण करने के प्रयत्न में निमग्न, खाने पीने के शौकीन, शरीर को मिहनत से बचाने के लिए आतुर, और खर्चीली है। इसलिए उनको यह भय बना रहता है कि यदि पूर्वी सभ्यता के हजारों प्रतिनिधि दक्षिण अफ्रिका में घुस आवें तो पश्चिम के लोगों को अवश्य ही पीछे हट जाना पडे। दक्षिण आफ्रिका में बसनेवाली गोरी जातियां आत्म-हत्या करने के लिए तो कभी तैयार ही न होंगी। और न इन जातियों के हिमायती इन्हें इस खतरे में पडने देंगे।

मुझे विश्वास है कि अच्छे से अच्छे और चारित्रवान् गोरों ने जिस प्रकार इस दलील को पेश किया है ठीक उसीतरह निष्पक्ष

बुद्धि से मैंने भी उसे यहां लिख दिया है। मैं ऊपर यह जरूर कह गया हूं कि यह तत्त्वज्ञान का आडम्बर मात्र है, पर इससे मेरा यह मतलब हरगिज नहीं कि यह बिलकुल निःसार है। व्यावहारिक दृष्टि से तो-अर्थात् तात्कालिक स्वार्थ दृष्टि से-देखा जाय तो उसमें बहुत कुछ सार है। पर तात्त्विक दृष्टि से अगर इसपर विचार करें तो वह अवश्य आडम्बर ही है। मेरी छोटी बुद्धि के अनुसार तो कम से कम मुझे यही मालूम होता है कि तटस्थ मनुष्य की बुद्धि उनके निर्णय को कुबूल न करेगी। उपर्युक्त दलील करनेवालों ने अपनी सभ्यता को जितनी लाचार स्थिति में रक्खा है उतनी लाचार स्थिति में कोई भी सुधारक अपनी सभ्यता को न रक्खेगा, कम से कम मैं तो नहीं जानता कि किसी भी पूर्वी तत्त्वज्ञानी को ऐसा भय हो कि पश्चिमी जातियां पूर्वी जातियों के संपर्क में स्वतंत्रतापूर्वक आवें तो पूर्व की सभ्यता पश्चिमी सभ्यता की बाढ में बालू की तरह बह सकती है। इस पूर्वी तत्त्वज्ञान का मुझे जो कुछ भी परिचय है उसके बल पर मुझे तो यही मालूम होता है कि पूर्वी सभ्यता पश्चिम के स्वतंत्र संपर्क से न केवल निर्भय रहती है बल्कि उसका वह उलटा स्वागत भी करती है। इसके विपरीत उदाहरण अगर पूर्व में दृष्टिगोचर भी हो रहे हों तो उनसे मेरे उपर्युक्त सिद्धान्त को बाधा नहीं आ सकती। क्योंकि मुझे विश्वास है कि उस (सिद्धान्त) के समर्थन में अनेक उदाहरण पेश किये जा सकते हैं। पर यह जो कुछ भी हो, पश्चिम के तत्त्वज्ञानियों का तो यही दावा है कि पश्चिमी सभ्यता का मूलमंत्र यही है कि "पशुबल सर्वोपरि है"। और इसीलिए इस सभ्यता के हिमायती पशुबल को कायम रखने के लिए अपने समय का अधिक से अधिक बड़ा हिस्सा लगाते हैं। फिर इनका तो एक यह भी सिद्धान्त है

कि जो जातियां अपनी आवश्यकताओं को नहीं बढावेंगी उनका आखिर नाश ही होगा। इन्हीं सिद्धान्तों को ले कर पश्चिमी जातियां दक्षिण आफ्रिका में बसी हैं। और उनकी संख्या के परिमाण से देखा जाय तो असंख्य हबसियों को उन्होंने अपने अधीन कर रक्खा है। फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि वे दीन हीन भारतीयों से डरें। और सभ्यता की दृष्टि से उन्हें जरा भी भय नहीं है इसका सब से बढिया सबूत तो यह है कि यदि भारतीय हमेशा के लिए मजदूर बन कर ही रहे होते तब तो उनके खिलाफ कोई आन्दोलन ही न हुआ होता।

अतः जो मुख्य वस्तु शेष रह जाती है वह तो है व्यापार और वर्ण। इस बात को तो हजारों गोरों ने लिखा है और कुबूल किया है कि भारतीयों का व्यापार छोटे छोटे अंगरेज व्यापारियों के लिए हानिकर है, और गेहुंए रंग की अरुचि अभी हाल तो अंगरेजों के खून में व्याप्त हो गई है। उत्तरी अमेरिका में, जहां कि कानून में सबके लिए एकसा हक रखे गये हैं, बुकर टी वाशिंगटन् जैसा ऊंची से ऊंचीं शिक्षा पाया हुआ तथा अतिशय चारित्रवान् ईसाई पुरुष जिसने पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरह से अपना लिया है, प्रेसिडेन्ट रुझवेल्ट के दरबार में नहीं जा सका और न आज भी जा सकता है। वहांके हबसियों ने पश्चिमी सभ्यता के आगे सिर झुका दिया है, वे ईसाई भी हो गये हैं। पर उनकी काली चमडी उनका एक महान् अपराध है, और उत्तर में यदि दैनिक व्यवहार में उनका तिरस्कार ही होता है तो दक्षिण अमेरिका में गोरे लोग उन्हें किसी अपराध के संदेह मात्र से जिंदे जला डालते हैं। दक्षिण आफ्रिका में इस दंड-नीति का एक खास नाम भी है जो आजकल की अंगरेजी भाषा में

एक प्रचलित शब्द हो रहा है। वह शब्द है "लीन्च लॉ"। "लीन्च लॉ" अर्थात् वह दण्डनीति जिसकी रू से पहले दण्ड-सजा हो जाती है और फिर तहकीकात होती रहती है। लीन्च नामक पुरुष ने पहले इस प्रथा को शुरू किया था। इसीलिए इसका नाम "लीन्च लॉ" पडा।

इस विवेचन पर से पाठक भली भांति समझ गये होंगे कि उपर्युक्त तात्त्विक कही जानेवाली दलील में कोई सार नहीं। पर पाठक इसपर से यह न समझ बैठें कि तमाम इस दलील के पेश करनेवालों ने दूसरा खयाल रखते हुए भी यह दलील पेश की है। उनमें से बहुत से इस बात को प्रामाणिकतया मानते हैं कि उनकी दलील सारयुक्त और तात्त्विक है। संभव है कि यदि हम भी ऐसी परिस्थिति में हों तो शायद ऐसी ही दलीलें पेश करें। शायद इन्हीं कारणों से "बुद्धिः कर्मानुसारिणी" वाली कहावत निकली होगी। यह अनुभव किसे नहीं कि जैसी हमारी अंतर्वृत्ति बनी हो वैसी ही दलीलें हमें सूझती रहती हैं। और अगर वे दूसरे की समझ में न आवें, उसे उनसे संतोष न हो तो हमें भी असंतोष, अधीरता और आखिर क्रोध हो आता है।

मैंने जानबूझ कर इतना बारीक विचार किया है। मैं चाहता हूं कि पाठक भिन्न भिन्न दृष्टियों को समझ लें और आजतक जो ऐसा न करते आये हों वे उन्हें आदर की दृष्टि से देखने और समझने की आदतें डालें। सत्याग्रह का रहस्य जानने के लिए और विशेषतः उसको आजमाने के लिए ऐसी उदारता और सहन-शक्ति की बहुत आवश्यकता होती है। इसके सिवा सत्याग्रह असंभव है। इस पुस्तक को लिखने का हेतु महज पुस्तक लिखना नहीं है। मेरा हेतु यह भी नहीं कि जनता के सामने दक्षिण आफ्रिका के

इतिहास का एक अध्याय रक्खूं। मेरा हेतु तो यह है कि जिस वस्तु के लिए मैं जिन्दा हूं, जिन्दा रहना चाहता हूं, और जिसके लिए यह मानता हूं कि मैं मरने के लिए भी तैयार हूं, वह कैसे उत्पन्न हुई, उसका सामुदायिक प्रयोग किसतरह किया गया यह सब जनता जाने, समझे, और जहांतक पसंद करे अपनी शक्ति के अनुसार उसपर अमल करे।

अब हम फिर कथा प्रसंग की तरफ झुकें। हम यह देख चुके हैं कि ब्रिटिश सत्ताधिकारियों ने यह निर्णय कर लिया था कि ट्रान्सवाल में नवीन भारतीयों को न आने दिया जाय, और वहांके पुराने भारतीयों की स्थिति ऐसी दीनहीन कर दी जाय कि या तो वे घबडा कर, कायर बन कर ट्रान्सवाल छोड कर भाग जायं और अगर न भी छोडें तो लगभग मजदूर जैसे बन कर ही रह सकें। दक्षिण आफ्रिका के कितने ही बडे माने जानेवाले राजनैतिक पुरुषों ने कई बार कहा है कि भारतीय इस देश में केवल कठियारे और पानी भरनेवाले बनकर ही जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ऊपर जिस एशियाटिक महकमें का जिक्र आया है उसमें दूसरे अधिकारियों के साथ साथ भारत में रहे हुए तथा विभक्त-उत्तर-दायित्व (डायर्की) के आविष्कर्ता तथा प्रचारक की हैसियत से नामवरी कमानेवाले मि. लायनल कर्टिस भी थे। वे एक अच्छे खानदानी नौजवान हैं या कम से कम सन १९०५-६ में तो जरूर ही नौजवान थे। लार्ड मिल्नर के विश्वास-पात्र थे। सब काम शास्त्रीय पद्धति के अनुसार ही करने का दावा रखते थे। पर उनसे भी बडी बडी गलतियां हो सकती थीं। एक समय अपनी एक ऐसी ही भूल से आपने जोहान्सबर्ग की म्युनिसीपालिटी को १४००० पाऊण्ड के घाटे में डाल दिया था। उन्होंने यह

आविष्कार किया कि यदि नवीन भारतीयों को ट्रान्सवाल में आने से रोकना है तो हरएक पुराने भारतीय को दर्ज करने की कोई ऐसी तरकीब निकाली जाय जिससे एक के बदले दूसरा प्रवेश पा न सके और अगर आ भी जाय तो फौरन् पकड़ा जाय। अंगरेजी सत्ता की स्थापना के बाद जो परवाने निकाले गये थे उनमें भारतीयों के दस्तखत या अंगूठे की निशानी ली जाती थी। बाद किसीने सूचित किया कि ठीक तो यह होगा कि हरएक भारतीय की तस्वीर ही खींच ली जाय। इसलिए यों ही दस्तखत, अंगूठे की निशानी और तस्वीरें खिचना भी शुरू हो गया। इसके लिए किसी कानून की आवश्यकता तो थी ही नहीं, नहीं तो नेताओं को फौरन् खबर न हो जाती? धीरे धीरे इन नवीन योजनाओं के समाचार फैले। कौम के तरफ से सत्ताधिकारियों के पास पत्र गये। डेप्यूटेशन भी पहुंचे। अधिकारियों की तो यही दलील थी कि हम इस बात को तो बरदाश्त नहीं कर सकते कि चाहे जो आदमी जिसतरह चाहे, यहां घुस आवे। इसलिए तमाम भारतीयों के पास यहां रहने के परवाने एक ही किस्म के होना चाहिए और उनमें इतनी बातें लिखी होना चाहिए कि उसके आधार पर केवल उनका मालिक ही यहां आने पावे अन्य कोई नहीं। मैंने सलाह दी कि यह कानून तो यहां नहीं कि जिसके बल पर ये हमें ऐसे परवाने रखने के लिए बाध्य कर सकते हों, तथापि जहांतक सुलह को संरक्षित रखने का कानून मौजूद है तबतक तो वे हमसे परवाने जरूर मांग सकते हैं। भारत के "डिफेन्स ऑफ इण्डिया" ऐक्ट–भारत रक्षा विधान के ही जैसा कानून दक्षिण आफ्रिका में सुलह–रक्षा के लिए भी बनाया गया था। और जिस प्रकार भारत में वह भारत–रक्षा–विधान बहुत ज्यादह समय तक केवल

प्रजा-पीडन के लिए ही रक्खा गया था ठीक वैसे ही आफ्रिका में उस सुलह रक्षा-विधान को महज भारतीयो को सताने के लिए अधिक समय तक रख छोडा था। गोरों पर तो प्रायः उसका अमल होता ही न था। अब अगर यही निश्चित हुआ कि परवाने लेना ही चाहिए तो उनमें पहचानने के लिए भी तो कोई निशानी चाहिए न ? इसलिए यह बराबर है कि जो दस्तखत न कर सकते हों उन्हें अपने अंगूठे की निशानी लगानी चाहिए। पुलिसवालों ने एक यह आविष्कार किया है कि किसी भी दो आदमियों के अंगूठों की रेखायें कभी एकसी नहीं होती। उनके स्वरूप और संख्या का उन लोगों ने वर्गीकरण भी किया है। इस शास्त्र का जाननेवाला दो अंगूठों के छाप की तुलना कर के एक ही दो मिनट के अंदर कह सकता है कि वे दो भिन्न भिन्न व्यक्तियों के हैं या एक ही के। तस्वीरें खींचने देने की कल्पना मुझे तो जरा भी पसंद नहीं थी। और मुसलमानों की दृष्टि से तो उसमें धार्मिक बाधा भी थी। आखिर हम इस निश्चय पर पहुंचे कि हरएक भारतीय अपने पुराने परवाने लौटा कर नवीन योजना के अनुसार बनाये परवाने ले लें और नवीन आनेवाले भारतीय नवीन परवाने ही लें। भारतीय इस बात के लिए कानून की दृष्टि से जरा भी बाध्य नहीं किये जा सकते थे। किन्तु उन्होंने अपनी स्वेच्छापूर्वक यह करना इसलिए ठीक समझा कि उनपर कहीं दूसरे अंकुश न रक्खे जावें, दूसरे, वे कपटपूर्वक किसीको वहां बुलाना नहीं चाहते इसे वे सिद्ध कर सकें और तीसरे रक्षा-विधान का उपयोग नवीन आनेवाले भारतीयों को सताने के लिए न होने पावे। यह कहा जा सकता है कि लगभग तमाम भारतीयों ने ये परवाने ले लिये थे। यह कोई ऐसी वैसी बात न थी। जिस बात के लिए कानून

में कोई सजा न थी उसे यदि कौम ने एकतापूर्वक और शीघ्रता से कर दिखाया तो इससे उसकी सच्चाई, व्यवहारकुशलता, दानापन, समझदारी और नम्रता ही प्रकट होती है। अपने इस कार्य द्वारा उसने यह भी सिद्ध कर बताया कि यह ट्रान्सवाल के किसी कानून का किसी भी प्रकार उल्लंघन करना नहीं चाहती थी। भारतीयों का ख्याल था कि जो जाति इतने विवेक के साथ आचरण करती है उसको सरकार भी अवश्य प्यार से रक्खेगी, उसका आदर करेगी और उसे दूसरे हक भी देगी। इस महाविवेक का बदला ट्रान्सवाल की ब्रिटिश सरकार ने किस प्रकार दिया यह हम अगले प्रकरण में देख सकेंगे!

अध्याय ११

विवेक का बदला- खूनी कानून

परवानों में उपर्युक्त रद्दोबदल हुई तबतक हम सन् १९०६ तक पहुंच गये थे। सन् १९०३ में मैंने फिर ट्रान्सवाल में प्रवेश किया था। इस वर्ष के करीब मध्य में मैंने जोहान्सबर्ग में अपना आफिस खोला था अर्थात् दो साल एशियाटिक आफिस के आक्रमणों से बचाव करते करते ही बीत गये। हम सब यही सोचते थे कि परवानों का झगडा तय होते ही सरकार पूरी तरह से संतुष्ट हो जायगी, और कौम को भी कुछ शांति प्राप्त होगी। पर उसके नसीब में शांति थी ही नहीं। मि. लायनल कर्टिस का परिचय मैं पिछले अध्याय में दे चुका हूं। उन्हें मालूम हुआ कि गोरों का हेतु केवल इतनी बात से सिद्ध नहीं होता, कि भारतीय सिर्फ नवीन परवाने ले लें। उनकी दृष्टि से यह बात काफी न थी कि ऐसे महान् कार्य परस्पर स्वेच्छापूर्वक हो जायं। इन कार्यों के पीछे कानून का बल भी अवश्य होना चाहिए। तभी वह शोभा दे सकता है, और उनके महत्त्वपूर्ण अंगों तथा सिद्धान्तों की रक्षा

हो सकती है । मि. कर्टिस का हेतु यह था कि भारतीयों को किसी कानून के द्वारा इस प्रकार जकड दिया जाय कि जिसका असर सारे दक्षिण आफ्रिका भर में हो, और आखिर दूसरे उपनिवेश उसका अनुकरण करें । जबतक दक्षिण आफ्रिका भर में कहीं जरा भी जगह रहेगी तबतक ट्रान्सवाल सुरक्षित नहीं कहा जा सकता । फिर उनकी दृष्टि से सरकार और भारतीयों के बीच इस प्रकार सुलह होने से तो उलटो उनकी—कौम की मानों प्रतिष्ठा बढ गई । मि. कर्टिस उनकी इस प्रतिष्ठा को बढाना नहीं, घटाना चाहते थे । उन्हें भारतीयों की सम्मति की आवश्यकता न थी । वे तो बाह्य नियन्त्रण द्वारा कौम को कंपायमान कर देना चाहते थे । इसलिए उन्होंने एशियाटिक कानून का मसौदा तैयार किया और सरकार को यह सलाह दी कि जबतक इस मसौदे के अनुसार कानून बन कर स्वीकृत नहीं हो जाता तबतक बाहर से दब छिप कर भारतीय आते ही रहेंगे । और इसतरह आनेवालों को बाहर निकालने के लिए कानून में कोई व्यवस्था नहीं है । मि. कर्टिस का मसौदा और उनकी सलाह भी सरकार को बहुत पसंद हुई । उस मसौदे के अनुसार वहां की धारासभा में पेश करने के लिए एक बिल बना कर उसे सरकारी गझट में प्रकाशित कर दिया गया ।

इस बिल के विषय में मैं अधिक कहूं इसके पहले एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग को, जो वहां घटित हुआ, कुछ शब्दों में कह देना अधिक आवश्यक है । चूंकि मैं सत्याग्रह का प्रेरक हूं, इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि पाठक मेरी स्थिति–परिस्थितियों को पूरी तरह समझ लें । उपर्युक्त तरीकों से ट्रान्सवाल के भारतीयों को सताने के प्रयत्न हो रहे थे कि उसी समय इधर नेटाल में वहांके हबसी–ज़ुलूओं में बलवा हो गया । मुझे उस समय और

अभीतक भी संदेह है कि उस झगडे को हम बलवा कह भी सकते हैं या नहीं। तथापि नेटाल में उस घटना का परिचय इसी नाम से हमेशा दिया गया है। इस बार भी नेटाल में रहनेवाले बहुत से गोरे उस बलवे को शान्त करने के लिए सेवक बने। मैं नेटाल का ही निवासी माना जाता था। इसलिए मुझे मालूम हुआ कि मुझे भी उसमें नौकरी करना चाहिए। इसलिए कौम की आज्ञा ले कर सरकार के पास मैंने एक संदेश भेजा कि वह मुझे घायलों की सेवा करने के लिए स्वयंसेवक दल बनाने की इजाजत दे। सरकार ने इसे मंजूर कर लिया। इसलिए ट्रान्सवाल का मकान मैंने छोडा। बालबच्चों को मैंने नेटाल में खेत पर जहां से "इण्डियन ओपीनियन" नामक समाचार पत्र प्रकाशित होता था, और जहां पर मेरे सहायक लोग रहते थे भेज दिया। आफिस खुली ही रखी थी। क्योंकि मैं मानता था कि मुझे इसमें बहुत दिन नहीं लगेंगे।

२०–२५ आदमियों का एक छोटासा दल खडा कर के मैं फौज के साथ शामिल हो गया। इस छोटे से दल में भी लगभग तमाम जाति के भारतीय थे। इस दल ने एक महीना भर सेवा की। हमें जो जो काम दिया गया उसे मैंने हमेशा परमात्मा का अनुग्रह माना। हमने यह देखा कि जो हबसी घायल होते उन्हें अगर हम न उठा लेते तो यों ही बेचारे सडा करते। उन घायलों की शुश्रषा करने में गोरे कभी सहायता न करते थे। जिस शस्त्रवैद्य के पास हमें काम करना पडता था वह स्वयं बडा दयालु पुरुष था। घायलों को उठा कर दवाखाने में लाने पर उनकी शुश्रषा करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात थी। पर हम तो यह निश्चय कर के गये थे कि वे जिस किसी काम को कहें उसे हम अपने क्षेत्र

के भीतर ही समझें। इसलिए उस भले डाक्टर ने हमें कहा "मुझे एक भी गोरा शुश्रषा करने के लिए नहीं मिलता। न मेरे पास ऐसी कोई सत्ता है कि जिसके द्वारा मैं उन्हें यह काम करने के लिए बाध्य कर सकूं। इसलिए अगर आप यह परोपकार करो तो मैं आपका अहसान मानूंगा। हमने इसका स्वागत किया। कितने ही हबसियों के जखम पांच पांच छः छः दिन से दुरुस्त ही नहीं किये गये थे। इसलिए उनमें से दुर्गन्ध आ रही थी। उन्हें साफ करने का काम हमारे जिम्मे हुआ। और हमें यह बहुत पसंद भी आया। बेचारे हबसी हमारे साथ बोल तो सकते ही न थे। किन्तु उनकी चेष्टाओं और आंखों पर से हम यह देख सकते थे कि उन्हें यह मालूम हो रहा था कि उनकी शुश्रषा करने के लिए हमें परमात्मा ही ने तो न भेजा हो? इस काम में कभी कभी दिन में चालीस चालीस मील भी हमें चलना पडता था।

एक महीने के अंदर हमारा काम समाप्त हो गया। अधिकारियों को भी उससे संतोष हुआ। गवर्नर ने हमारा अहसान मानते हुए हमें एक पत्र लिखा। इस दल में तीन गुजरातियों को सार्जन्ट का अधिकार दिया गया था। गुजरातियों को उनके नाम जान कर अवश्य हर्ष होगा। उनमें एक तो थे उमियाशंकर शेलत, दूसरे सुरेन्द्रराय मढे और तीसरे हरिशंकर जोशी। तीनों कसे हुए बदन के थे और तीनों ने बडी सख्त मिहनत की थी। अन्य भाइयों के नाम इस समय मुझे याद नहीं आते। पर इतना जरूर याद है कि उनमें एक पठान भी था। मुझे यह भी याद आ रहा है कि उसके जितना ही वजन उठा कर उसके साथ साथ कूच करते हुए हम सबको देख कर उसे बडा आश्चर्य होता था।

इस टुकडी में काम करते हुए मेरे दो विचार जो धीरे धीरे पक्क हो रहे थे, परिपक्क होकर बाहर निकले। एक तो यह कि सेवा-धर्म को प्रधानपद देनेवाले को ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यावश्यक है। और दूसरा यह कि जिसने सेवा-धर्म धारण किया है उसे हमेशा के लिए गरीबी का व्रत लेना चाहिए। वह कभी ऐसे व्यवसाय में न पडे जिससे सेवा करने में उसे कभी संकोच मालूम होने का मौका आवे या जरा हिचापिचाहट भी हो।

इस टुकडी में काम करते हुए भी मुझे ट्रान्सवाल फौरन लौट आने के लिए पत्र और तार बराबर आ रहे थे। इसलिए फिनिक्स में सबको मिलकर मैं फौरन जोहान्सबर्ग पहुंचा। और वहां उपर्युक्त बिल पढा। बिलवाला गजट मैं आफिस से घर पर ले गया था। घर के पास एक छोटी सी टेकडी थी। वहां अपने साथी को लेकर मैं "इण्डियन ओपीनियन" के लिए उस बिल का अनुवाद कर रहा था। जैसे जैसे म उस बिल की धारायें पढता आ रहा था वैसे वैसे मेरा बदन कांपता जाता था। मैं उसमें सिवा भारतीयों के द्वेष के और कुछ भी न देख सका। मुझे उस समय यह मालूम हुआ कि अगर यह बिल पास हो जाय और भारतीय उसे कुबूल कर लें तो दक्षिण आफ्रिका से भारतीयों के पैर जडमूल से उखड जावें। मैं स्पष्ट रूप से यह देख सका कि भारतीयों के लिए वह जीवन-मरण का प्रश्न था। मुझे यह भी भास होने लगा कि यदि अर्जियां दे कर कौम को सफलता प्राप्त न हुई तो वह चुपचाप भी नहीं बैठ सकती। इस कानून के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा तो मरना भला है। पर मरें कैसे? ऐसा कौन मार्ग है जिसके अवलंबन से अथवा अवलंबन का साहस करने से कौम के सामने केवल दो ही बातें रहें—जीत या मौत?

तीसरी बात ही न दिखे ? मेरी आंखों के सामने तो ऐसी भयंकर दीवाल खडी हो गई कि मुझे तो कोई मार्ग ही नहीं सूझा । जिस कागज ने मुझे इतना दहला दिया उसे तो पाठकों को अवश्य जान लेना चाहिए । उसका सार नीचे लिखे अनुसार है ।

"ट्रान्सवाल में रहने का हक रखने की इच्छा रखनेवाले हरएक भारतीय पुरुष, स्त्री और आठ आठ वर्ष या आठ वर्ष से अधिक उम्रवाले बालक या बालिका को एशियाई दफ्तर में अपना नाम लिखा कर परवाना प्राप्त कर लेना चाहिए । ये परवाने लेते वक्त पुराने परवाने अधिकारी को सौंप दिये जायं । नाम लिखाने की अर्जी में अपना नाम, स्थान, जाती, उम्र वगैरा लिखे जायं । नाम लिखनेवाले अधिकारी को चाहिए कि अर्जदार के शरीर पर की मुख्य निशानियों को नोट कर लें। अर्जदार की तमाम उंगलियों की और दोनों अंगूठों की छाप ले लें । उन भारतीय स्त्री-पुरुषों का ट्रान्सवाल में रहने का हक रद समझा जाय जो नियत समय के भीतर इस प्रकार अर्जी न करेंगे । अर्जी न करना भी एक कानूनन अपराध माना जायगा, जिसके लिए वह व्यक्ति जेल में भेज दिया जा सकता है या उसका जुर्माना हो सकता है और अगर अदालत चाहे तो उसे देशनिकाले की सजा भी हो सकती है । बच्चों के लिए माता पिता को अर्जी करना चाहिए । निशानियां तथा उंगलियों की छाप देने के लिए बच्चों को अधिकारियों के पास पेश करने की जिम्मेदारी भी उनके माता-पिता के सिर पर ही रहेगी । यदि माता-पिताओं ने इस जिम्मेदारी को अदा न किया हो तो बच्चों को चाहिए कि उनकी सोलह वर्ष की उम्र होते ही वे स्वयं उसे अदा करें । और उस उपर्युक्त अपराध के लिए जिन जिन सजाओं के

पात्र वे माता–पिता समझे जावेंगे उन्हीं सजाओं के पात्र वे बच्चे भी सोलह वर्ष की उम्र प्राप्त करने पर समझे जावेंगे। अर्जदार को जो परवाने दिये जायं, उन्हें अर्जदार को चाहिए कि वह हर किसी पुलिस अधिकारी को जहां और जिस वक्त वह मांगे वहीं और उसी वक्त हाजिर कर दे। अगर वह ऐसा न कर सकेगा तो वह भी एक जुर्म समझा जायगा; और कोर्ट इसकेलिए उसका या तो जुर्माना कर सकती है या उसे कैद की सजा दे सकती है। यह परवाना राहगिर मुसाफिर से भी मांगा जा सकता है। परवाना ढूंढने के लिए अधिकारी लोग भारतीयों के मकान में भी घुस सकते हैं। ट्रान्सवाल के बाहर से आनेवाले स्त्री–पुरुषों को चाहिए कि वे अपने परवाने उन नियुक्त अधिकारियों को जरूर बता दें जो उन्हें देखना चाहें। अगर भारतीय कहीं अदालत में किसी काम के लिए जावें या महसूली नाके पर व्यापार के लिए या बायसिकल रखने की इजाजत लेने के लिए जावें तो वहां भी उनसे परवाना मांगा जा सकता है। अर्थात् किसी भी सरकारी दफ्तर में उस दफ्तर से संबंध रखनेवाले अपने काम के लिए अगर कोई भारतीय जाय तो उसकी बात सुनने के पहले वहांका अधिकारी उससे परवाना मांग सकता है। परवाना पेश करने से या उस विषय की कोई भी जानकारी अधिकारी के पूछने पर बताने से इनकार करना भी एक अपराध माना गया है। और इसके लिए भी कोर्ट उसे कैद की सजा दे सकती है या उसका जुर्माना कर सकती है।

मुझे जरा भी ख्याल न था कि संसार के किसी भी हिस्से में स्वतंत्र मनुष्यों के लिए इस प्रकार का कोई कानून हो सकता है। मैं जानता हूं कि नेटाल के गिरमिटिया भाइयों के विषय में

परवाने के कानून बहुत सख्त हैं। पर वे तो बेचारे स्वतंत्र ही नहीं माने जाते। तथापि यह कहा जा सकता है कि इस कानून के मुकाबले में तो उनके कानून भी सौम्य हैं। और उसे तोडने के अपराध में मिलनेवाली सजाओं के मुकाबले में उनकी सजायें तो कुछ भी नहीं। लाखों का व्यापार करनेवाला व्यापारी इस कानून के आधार पर ट्रान्सवाल से बाहर निकाल दिया जा सकता है। अर्थात् उसकी आर्थिक स्थिति का सत्यानाश हो सकता है। इस कानून के भंग से हालत यहांतक नाजुक हो जा सकती है। और अगर पाठक अधीर न हों तो वे यह भी पढेंगे कि इस अपराध के लिए भारतीयों को ऐसी सजायें हो भी चुकी हैं। गुन्हा करनेवाली कौमों के लिए भारत में कितने ही सख्त कानून हैं। बस उनसे इस कानून की तुलना आसानी से की जा सकती है। और उस तुलना में आप यह न कह सकेंगे कि यह कानून किसी प्रकार भी कम सख्त है।

दसों उंगलियों की छाप लेने की बात तो आफ्रिका में बिलकुल नई थी। एक बार इस विषय का साहित्य पढने की इच्छा से किसी पुलिस अधिकारी की लिखी "उंगलियों की छाप" (फिंगर इम्प्रेशन्स) नाम की पुस्तक मैंने पढी। उसमें मैंने यह पढा कि इस तरह कानून के अनुसार उंगलियों की छाप केवल जुर्म करनेवालों से ही ली जाती है। इसलिए जबरदस्ती उंगलियों की छाप लेने की बात मुझे बडी ही भयंकर मालूम हुई। स्त्रियों के तथा सोलह वर्ष के भीतर के बच्चों के परवाने लेने की प्रथा भी कानून में पहले पहल ही दर्ज हुई थी।

दूसरे दिन कुछ गण्यमान्य भारतीयों को इकट्ठा करके मैंने उन्हें इस कानून का अक्षर अक्षर समझाया। उसका असर उनपर

भी वही हुआ जो मुझपर हुआ था। उनमें से एक तो आवेश में बोल उठे "मेरी औरत से अगर कोई परवाना मांगने के लिए आवेगा तो मैं तो उसे वहींका वहीं मार डालूंगा, फिर मेरा जो कुछ होना होगा होता रहेगा।" मैंने उन्हें शान्त किया और सबसे कहा "यह मामला बहुत गंभीर है। अगर यह बिल पास हो जाय और हम उसे कुबूल कर लें तो सारे दक्षिण आफ्रिका में उसका अनुकरण होगा। मुझे तो इस बिल का यही हेतु मालूम होता है कि यहां से हमारा अस्तित्व ही मिटा दिया जाय। यह कानून कोई आखिरी सीढी नहीं है। बल्कि हमें कष्ट दे कर भगा देने की पहली सीढी है। इसलिए हमारे सिर पर केवल ट्रान्सवाल में बसनेवाले १०-१५ हजार भारतीयों की ही नहीं बल्कि दक्षिण आफ्रिका भर के तमाम भारतीयों की जिम्मेदारी है। और अगर हम इस बिल का रहस्य अच्छी तरह समझ लें तब तो सारे भारतवर्ष की प्रतिष्ठा की जवाबदारी भी हमारे सिर पर आती है। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि इस बिल से केवल हमारा ही अपमान होगा बल्कि इसमें तो सारे भारतवर्ष का अपमान है। अपमान का मतलब ही यह है कि निर्दोष मनुष्य का मान-भंग। यह तो कोई नहीं कह सकता कि हम ऐसे कानून के पात्र हैं। हम तो निर्दोष हैं और राष्ट्र के एक भी निर्दोष हिस्से का अपमान सारे राष्ट्र का अपमान है। इसलिए इस कठिन प्रसंग पर अगर हम जल्दबाजी करेंगे, अधीरता दिखावेंगे, क्रुद्ध हो जावेंगे तो हम उसके द्वारा इस हमले से अपनी रक्षा न कर सकेंगे। पर यदि शांतिपूर्वक उसका उपाय ढूढेंगे, वक्त पर उसका अवलंबन करेंगे, एकतापूर्वक रहेंगे और अपमान का प्रतिकार करते हुए जो मुसीबतें आवें उनका स्वागत करेंगे तो मुझे तो विश्वास है कि स्वयं परमात्मा ही हमारी सहायता करेगा।"

सभी बिल का गांभीर्य समझ गये थे। सबने यह निश्चय किया कि एक विराट सभा निमन्त्रित की जाय और उसमें कितने ही प्रस्ताव पेश करके उन्हें स्वीकृत किया जाय। यहूदियों की एक नाट्यशाला किराये पर ली गई। वहीं सभा भी निमन्त्रित की गई।

अब पाठक समझ सकेंगे कि इस अध्याय के शीर्षक में इस कानून को "खूनी कानून" क्यों लिखा है। उस विशेषण का प्रयोग मैंने इस अध्याय के लिए नहीं किया। वह तो दक्षिण आफ्रिका में इस कानून के लिए प्रचलित हो गया था।

अध्याय १२ वां

सत्याग्रह का जन्म

उस नाट्य-शाला में सभा तो भरी। ट्रान्सवाल के भिन्न भिन्न शहरों से प्रतिनिधि भी बुलाये गये। पर मुझे कुबूल करना चाहिए कि जो प्रस्ताव मैंने बनाये थे उनका पूरा अर्थ स्वयं मैं ही न समझ सका था। उसीप्रकार यह अंदाज भी न लगा सका था कि इनका दूरवर्ती परिणाम क्या होगा। सभा भरी। नाट्य-शाला में कहीं भी खाली जगह नहीं बची। सबके चेहरे मानों यही कह रहे थे कि कुछ नवीन बात आज हमें करना है, कुछ तो भी अपूर्व होनेवाला है। ट्रान्सवाल ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशन के अधिपति मि. अबदुल गनी अध्यक्ष-स्थान पर बिराजे। आप ट्रान्सवाल के बहुत ही पुराने निवासियों में से एक थे। महमद कासम कमरुद्दीन नामक प्रख्यात दूकान के आप भागीदार थे और उसीकी जोहान्सबर्ग शाखा के व्यवस्थापक थे। सभा में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे उनमें महत्व का प्रस्ताव तो एक ही था। उसका आशय यह था। इस बिल का बिरोध करने के लिए तमाम उपायों का अवलंबन किया जाय पर यदि इतने

पर भी वह पास हो ही जाय तो भारतीयों को उसके आगे अपना सिर न झुकाना चाहिए। और इस अवज्ञा के फलस्वरूप जो जो दुःख सहना पडें वे सब सहें।

यह प्रस्ताव मैंने सभा को पूरी तरह समझा दिया। सभा ने उसे शांतिपूर्वक सुन लिया। कार्यवाही तो तमाम हिन्दी और गुजराती में ही हो रही थी, अर्थात् यह तो संभव नहीं था कि कोई समझता न होगा। जो तामिल और तेलगू भाई हिन्दी नहीं समझ सकते थे उन्हें उन्हींकी भाषा में सब बातें समझा दी गई। नियमानुसार एक दरख्वास्त भी बनाई गई। अनेक आदमियों ने उसका समर्थन किया। वक्ताओं में एक सेठ हाजी हबीब भी थे। वे भी दक्षिण आफ्रिका के बहुत पुराने और अनुभवी बाशिन्दे थे। उनका भाषण बडा जोशीला था। आवेश में आपने यह भी कह दिया कि "परमात्मा को साक्षी करके इस प्रस्ताव को हमें स्वीकृत करना है। हम नामर्द बनकर कभी इस कानून के वश नहीं हो सकते। इसलिए मैं तो अल्लाहपाक की कसम खा कर प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं कभी इस कानून के वश नहीं होऊंगा। में इस मजलिस से भी यही सिफारिश करता हूं कि वह भी अल्लाह को साक्षी करके इसी प्रकार प्रतिज्ञा ले।"

इसके समर्थन में और भी कई जोशीले भाषण हुए थे। पर जब सेठ हाजी हबीब बोलते बोलते कसम खाने पर आये तब मैं एकदम सावधान हो गया। बस, उसी समय मुझे अपनी और कौम की जिम्मेदारी का पूरा पूरा ख्याल हुआ। आजतक कौम ने कितने ही प्रस्ताव पास किये थे। अधिक विचार करने पर तथा नवीन अनुभव प्राप्त होने पर उसमें यथा समय परिवर्तन भी किया था। यह भी होता था कि एसे प्रस्तावों पर सब अमल

नहीं करते थे। प्रस्ताव में परिवर्तन, और सहमत होनेवालों का भी पीछे से इनकार करना आदि वस्तुएं संसार में सार्वजमिक जीवन का स्वाभाविक अनुभव है। पर ऐसे प्रस्तावों के बीच कोई ईश्वर का नाम नहीं देता था। सात्विक दृष्टि से देखा जाय तो निश्चय और ईश्वर का नाम लेकर प्रतिज्ञा करने में कोई भेद न होना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य जिस किसी बात का विचारपूर्वक निश्चय कर लेता है उससे वह विचलित नहीं होता। उसके लिए वह ईश्वर को साक्षी बनाकर की गई प्रतिज्ञा के बराबर ही है। पर संसार सात्विक निर्णयों से नहीं चलता। ईश्वर को साक्षी बनाकर की हुई प्रतिज्ञा और सामान्य निश्चय में वह जमीन आस्मान का भेद मानता है। सामान्य निश्चय को बदलते हुए मनुष्य को लज्जा नहीं मालूम होती। पर प्रतिज्ञाबद्ध मनुष्य से अगर अपनी प्रतिज्ञा का भंग हो जाता है तो वह स्वयं शरमाता है और समाज उसे फिटकार देता है— पापी समझता है। यह बात इतनी गंभीर है कि वह कानून में भी समाविष्ट हो गई है। क्योंकि यदि किसी बात की कसम खा कर आदमी उसका भंग करे तो वह एक अपराध माना गया है और कानून में उसके लिए सख्त सजा रक्खी गई है।

इन विचारों का रखनेवाला प्रतिज्ञाओं का अनुभवी, प्रतिज्ञाओं के मीठे फल खानेवाला मैं भी उपर्युक्त प्रतिज्ञा की बात सुन कर स्तब्ध हो गया। एक क्षणभर के अंदर मैंने उसके तमाम परिणामों को देख लिया। उन घबडाहटों में से शक्ति का जन्म हुआ। और यद्यपि मैं वहांपर न तो स्वयं प्रतिज्ञा करने तथा न लोगों से प्रतिज्ञा करवाने के लिए गया था तथापि सेठ हाजी हबीब की बात मुझे बहुत ही पसंद आई। पर साथ ही मुझे यह भी अचित

मालूम हुआ कि जनता को उसके तमाम परिणामों से परिचित कर देना चाहिए, प्रतिज्ञा का अर्थ स्पष्टरुप से उसे समझा देना चाहिए और इतने पर भी यदि वह प्रतिज्ञा करे तो उसका सहर्ष स्वागत करना चाहिए। और अगर न करे तो मुझे समझ लेना चाहिए कि लोग अभी अंतिम कसोटी पर चढने के लिए तैयार नहीं हुए। इसलिए मैंने अध्यक्ष महाशय से इस बात की इजाजत मांगी कि वे मुझे सेठ हाजी हबीब के भाषण का रहस्य समझाने दें। मुझे आज्ञा मिल गई। मैं उठा। और उस समय मैंने जो कुछ कहा उसका सार मुझे जिस प्रकार याद है, मैं नीचे दे रहा हूं।

"मैं सभा को अभी यह बात समझा देना चाहता हूं कि आजतक हमने जो प्रस्ताव जिस प्रकार स्वीकृत किये हैं उनमें, उनकी रीति में और आज के प्रस्ताव और उनकी रीति में जमीन आस्मान का फर्क है। प्रस्ताव बडा गंभीर है क्योंकि उसका पूरा पूरा अमल करने पर ही दक्षिण आफ्रिका में हमारा अस्तित्व निर्भर है। इस प्रस्ताव को स्वीकार करने की जो नवीन रीति हमारे इन भाई ने बताई है वह जितनी नवीन है उतनी ही गम्भीर भी है। मैं स्वयं प्रस्ताव को इस प्रकार स्वीकार करने के विचार से नहीं आया था। इसका पूरा श्रेय तो सेठ हाजी हबीब को ही है। और इसकी जिम्मेदारी भी उन्हींके ऊपर है। उनको मैं धन्यवाद देता हूं। उनकी सूचना मुझे बडी ही अच्छी लगी। पर अगर आप उनकी सूचना का स्वीकार कर लें तो आप भी उनकी गम्भीर जिम्मेदारी के हिस्सेदार हो सकते हैं। पर आपको पहले यह समझ लेना चाहिए कि वह जिम्मेदारी क्या है। और कौम के सलाहकार और सेवक की हैसियत से मेरा यह धर्म है कि मैं आपको वह पूरी तरह समझा दूं।

हम सब एक ही सरजनहार को मानते हैं। उसे मुसलमान भले ही खुदा कह कर पुकारें, हिन्दू भले ही ईश्वर कह कर उसका भजन करें। पर वह है एक ही स्वरूप। उसको साक्षी बनाकर—उसे हमारा मध्यस्थ बनाकर हम प्रतिज्ञा लें या कसम खावें यह कोई ऐसी वैसी बात नहीं। ऐसी कसम खा कर यदि हम उससे विचलित हो जायं तो कौम के, संसार के और परमात्मा के अपराधी होंगे। स्वयं मैं तो यह मानता हूं कि यदि मनुष्य सावधानी और निर्मल-बुद्धिपूर्वक कोई प्रतिज्ञा करके बाद उसे तोड दे तो वह अपनी मनुष्यता खो बैठता है और जिसतरह यह मालूम होते ही कि पारा चढाया हुआ तांबे का सिक्का रुपया नहीं है, उसे कोई नहीं पूछता, इतना ही नहीं बल्कि उस खोटे सिक्के का रखनेवाला सजापात्र माना जाता है, ठीक उसीतरह झूठी कसम खानेवाला आदमी भी कौडी कीमत का हो जाता है, बल्कि लोक परलोक में दोनों जगह वह सजा का पात्र हो जाता है। सेठ हाजी हबीब आपको इतनी ही गम्भीर कसम खाने के लिए कह रहे हैं। इस सभा में ऐसा एक भी मनुष्य नहीं है जो बच्चा या अज्ञानी कहा जा सकता हो। आप सब प्रौढ हैं, संसार को देखे हुए हैं, अधिकांश तो प्रतिनिधि हैं। आपमें से कई भाइयों ने छोटे या बडे परिमाण में जिम्मेदारियां भी उठाई हैं। अर्थात् इस सभा में से एक भी आदमी यह कह कर नहीं छूट सकता कि बगैर समझे-बूझे ही मैंने प्रतिज्ञा ले ली थी।"

"मैं जानता हूं कि प्रतिज्ञायें, व्रत वगैरा किसी असाधारण प्रसंग पर ही लिए जाते हैं और लिए भी जाने चाहिए। उठते बैठते प्रतिज्ञा लेनेवाला आदमी जरूर पछितावेगा। पर यदि हमारे सामाजिक जीवन में इस देश में प्रतिज्ञा लेने लायक किसी प्रसंग

की मैं कल्पना कर सकता हूं तो वह अवश्य यही है। होशियारी इसीमें है कि ऐसे समय पर बहुत सोच समझ कर आगे कदम रक्खा जाय। पर भय और सावधानी की भी हद होती है। इस हद को हम पहुंच चुके हैं। सरकार सभ्यता की मर्यादा को कूद गई है, हमारी चारों ओर उसने जब दावानल लगा दिया है तब फिर भी हम यदि न झुकावें और गफलत में पडे रहें तो नालायक और नामर्द साबित होंगे। इसलिए इसमें तिलमात्र भी संदेह नहीं कि यह अवसर शपथ लेने का है। पर यह बात तो हरएक आदमी को अपने आप सोचना होगा कि उसे लेने की शक्ति हममें है या नहीं। ऐसे प्रस्ताव बहुमति से नहीं पास किये जाते। जितने आदमी कसम खावेंगे वेही उसके द्वारा बांधे जावेंगे। न ये कसमें महज दिखावे के लिए ही खाई जाती हैं। कोई इस बात का भी तिलमात्र विचार न करे कि इसका असर यहांकी सरकार, बडी सरकार या भारत सरकार पर क्या होगा। हरएक आदमी केवल अपने हृदय पर हाथ रख के उसे ही टटोले और यदि इतना करने पर उसकी अंतरात्मा आज्ञा दे कि मुझमें कसम खाने की शक्ति है तभी कसम ले और वही सफल भी होगी।

अब कुछ शब्द इसके परिणाम के विषय में कहता हूं। अच्छी से अच्छी आशा रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि सभी अपनी अपनी कसम पर कायम रहें, भारतीयों में से अधिकांश यह कसम खा सकें तो यह कानून पास भी न हो और यदि हो भी जाय तो जरूर फैारन् रद हो जाय। कौम को अधिक कष्ट भी न हो। यह भी हो सकता है कि कुछ भी कष्ट न हो। पर जिस प्रकार प्रतिज्ञा लेनेवाले का धर्म एक प्रकार से श्रद्धा-पूर्वक आशा रखना है उसी प्रकार दूसरी तरफ से केवल निराशावादी

बनकर कसम खाने के लिए भी उसे तैयार रहना चाहिए। इसीलिए हमारे युद्ध के जो कडुवे से कडुवे परिणाम हो सकते हैं उनका चित्र मैं इस सभा के सामने खींच देना चाहता हूं। यहांपर हम जितने मनुष्य उपस्थित हैं वे सब शपथ ले लें। अधिक से अधिक यहांपर ३००० की उपस्थिति होगी। हो सकता है कि शेष १०००० कसम न खावें। आरंभ में तो अवश्य ही हमारी हंसी होगी। तथापि इतनी चेतावनी देनेपर भी बहुत संभव है कि कसम खानेवालों में से भी कितने ही पहली कसौटी पर ही कमजोर साबित हों। हमें जेल में जाना होगा; वहां अपमान सहन करना होगा; भूख प्यास, और धूप भी झेलना पडेगा; सख्त मज्दूरी करनी पडेगी; उद्धत दरोगाओं के हाथ की मार भी खानी पडे तो आश्चर्य नहीं। जुर्माना होगा और कुर्की में माल असबाब भी बिक जा सकता है। अगर लडनेवाले बहुत थोडे रह जायं तो आज हमारे पास बहुत सा धन होते हुए भी हम कंगाल हो जावेंगे। देश के बाहर भी निकाल दिये जा सकते हैं, और भूख और जेल के अन्य दुःखों को सहते हुए हममें से कितने ही बीमार होंगे और कोई कोई मर भी जायं तो हमें आश्चर्य न मानना चाहिए। अर्थात् संक्षेप में कहना चाहें तो आश्चर्य नहीं कि आप जितने दुःखों की कल्पना कर सकते हो वे सभी हमें सहना पडें और समझदारी तो इसीमें है कि हरएक आदमी को यही सोच कर प्रतिज्ञा लेना चाहिए कि यह सब अकेले मुझी को सहना पडेगा। अगर कोई मुझे यह पूछे कि इस लडाई का अंत कब और क्या होगा तो मैं कह सकता हूं कि यदि सारी कौम इस परीक्षा में से पूरी तरह उत्तीर्ण हो जाय तब तो शीघ्र ही इस लडाई का अंत हो जाय। पर अगर हममें से बहुत से आदमी

मुसीबत आने पर फिसल जायं तब तो वह बहुत दिन तक चलेगी। पर फिर भी यह तो मैं हिंमत और निश्चय के साथ कह सकता हूं कि — जबतक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहनेवाले मुट्ठीभर आदमी भी बने रहेंगे तबतक इस युद्ध का अंत एक ही प्रकार से हो सकता है — अर्थात् हमारी जीत ही होगी।

"अब मैं अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारी के विषय में एक दो शब्द कहना चाहता हूं। यद्यपि मैं आपको प्रतिज्ञा लेने से सामने आनेवाली कठिनाइयां दिखा रहा हूं तथापि मैं आपको प्रतिज्ञा लेने के लिए प्रेरित भी कर रहा हूं। इसमें मैं अपनी जिम्मेदारी बराबर समझता हूं। हो सकता है कि आवेश या रोष के कारण इस सभा का बहुत बडा हिस्सा यह प्रतिज्ञा करे, पर मुसीबत के समय कमजोर साबित हो और आखिरी ताप सहन करने के लिए केवल मुट्ठीभर आदमी ही रह जावें। पर मेरे जैसे आदमी के लिए तो केवल एक ही रास्ता बचा है—मर मिटना पर इस कानून के वश न होना। मैं तो यह भी मानता हूं कि फर्ज कीजिए—यद्यपि ऐसा होने की जरा भी संभावना नहीं तथापि मान लीजिए—कि सभी फिसल पडें, और अकेला मैं ही रह जाऊं तथापि मुझे यह पूरा विश्वास है कि उस हालत में भी मुझसे प्रतिज्ञा का भंग कदापि नहीं हो सकता। जिस उद्देश से मैं यह कह रहा हूं उसे समझ लीजिए। यह घमण्ड की बात नहीं। पर इस मंच पर बैठे हुए नेताओं को सावधान करने के लिए यह कही गई है। अपना उदाहरण लेकर नेताओं को मैं विनयपूर्वक यह कहना चाहता हूं कि अगर आपमें यह शक्ति न हो कि आपके केवल अकेले रह जाने पर आप उसपर दृढ न रह सकेंगे तो वह प्रतिज्ञा मत कीजिए। इतना ही नहीं बल्कि इस प्रस्ताव पर प्रतिज्ञा की जावें उसके पहले

अपना विरोध प्रकट कर दीजिएगा और उसमें अपनी सम्मति मत दीजिए। यद्यपि हम सब इस प्रतिज्ञा को एक साथ ही करना चाहते हैं तथापि कोई इसका यह अर्थ न करे कि यदि एक अथवा अनेक आदमी अपनी प्रतिज्ञा का भंग करे तो शेष भी अनायास इस बंधन से मुक्त हो सकते हैं। हरएक आदमी अपनी पूरी जिम्मेदारी के साथ स्वतंत्ररूप से प्रतिज्ञा ले। और साथ ही प्रतिज्ञा लेने के पहले यह भी निश्चय कर ले कि दूसरे चाहे जो करें तथापि मैं तो जबतक शरीर में प्राण रहेंगे तबतक उसपर दृढ ही रहूंगा।"

इस प्रकार बोल कर मैं बैठ गया। जनता बडी शांति के साथ एक एक शब्द सुन रही थी। अन्य नेता भी बोले। सबने अपनी अपनी तथा श्रोताओं की जिम्मेदारी का विवेचन किया। अध्यक्ष उठे। उन्होंने भी वही समझाया, और अंत में सारी सभा ने खडे रहकर परमात्मा को साक्षी रख कर यह प्रतिज्ञा की कि यदि कानून पास हो जाय तो हम उसके आगे सिर न झुकावेंगे। वह दृश्य ऐसा था कि मैं उसे कभी भूल नहीं सकता। जनता में बेहद उत्साह था। दूसरे ही दिन उस नाट्यशाला में अकस्मात आग लगी और वह जलकर भस्म हो गई। तीसरे दिन लोग मेरे पास आये और कौम को मुबारिकबादी देते हुए कहने लगे कि नाट्यशाला का जलना कौम के लिए एक शुभ शकुन है। नाट्यशाला की तरह वह कानून भी एक दिन जल जायगा। पर ऐसी बातों का मुझपर कभी कोई असर नहीं हुआ। इसलिए मैंने उसे कोई महत्त्व नहीं दिया। यहां तो इस बात का उल्लेख केवल यह बताने के लिए किया है कि जनता में कितनी श्रद्धा और शौर्य था। और इन दोनों बातों के बहुत से लक्षण पाठक आगामी प्रकरणों में पढेंगे।

उपर्युक्त विराट सभा के बाद कार्यकर्त्ता बैठे न रहे। स्थान स्थान पर सभायें भरी गई, और सब जगह सर्वानुमति से प्रतिज्ञायें की गईं। अब "इण्डियन ओपीनियन" की मुख्य चर्चा का विषय यह 'खूनी कानून" ही बन बैठा था। उधर स्थानीय सरकार को मिलने के लिए भी प्रयत्न किये गये। उस विभाग के मुख्य सचिव के पास एक डेप्यूटेशन (शिष्ट-मंडल) गया। प्रतिज्ञा की बात भी कही गई। सेठ हाजी हबीब, जो इस डेप्यूटेशन में थे, बोले "अगर मेरी औरत की उंगलियों की छाप लेने के लिए कोई अधिकारी आवेगा तो मैं जरा भी अपने गुस्से को काबू में न रख सकूंगा। उसे मैं वहीं जान से मार डालूंगा और मरूंगा। प्रधान सचिव थोडी देर तक सेठ हाजी हबीब के मुंह की ओर ताकते रह गये। उन्होंने कहा "सरकार इस बात का विचार कर रही है कि यह कानून औरतों को लगाया जाय या नहीं? और यह तो मैं आपको अभी विश्वास दिला सकता हूं कि औरतों से सम्बन्ध रखनेवाली तमाम धारायें वापिस ले ली जावेंगी। इस बिषय में आपके भावों को सरकार समझ सकती है, और उनकी कदर भी करना चाहती है। पर अन्य धाराओं के विषय में तो मुझे दुःख के साथ यही कहना होगा कि सरकार दृढ है, और दृढ रहेगी। जनरल बोथा चाहते हैं कि आप फिर भी अच्छी तरह विचार कर के उस कानून को मंजूर करें। गोरों के अस्तित्व के लिए सरकार उसे आवश्यक समझती है। कानून के मध्यवर्ती उद्देश का स्वीकार करते हुए यदि आप उसकी बारीकियों के विषय में कुछ सूचनायें करना चाहें तो सरकार उसपर जरूर गौर करेगी। और इस शिष्ट-मण्डल से तो मैं यही सिफारिश करूंगा कि आपका इसीमें भला है कि आप कानून का स्वीकार कर लें और बारीकियों के

विषय में भले ही सूचनायें करें।" प्रधान सचिव के साथ जो दलीलें हुई वे सब मैं यहां नहीं लिखता क्योंकि वे सब पीछे दी जा चुकी हैं। दलीलें वेही थीं, केवल उन्हें पेश करते हुए भाषा बदल दी गई थी। आखिर सचिव से यह कहते हुए कि हमें दुःख है कि आपकी सिफारिश को हम लोग नहीं मान सकते,—हममें से कोई भी उस कानून का स्वीकार नहीं कर सकता तथापि सरकार के इस हेतु के लिए हम जरूर उसका अहसान मानते हैं कि वह स्त्रियों को इस कानून के बंधन से मुक्त कर देना चाहती है।" अब यह कहना कठिन है कि स्त्रीयों की मुक्ति का कारण भारतीयों की हलचल है या स्वयं सरकार ने पुनः विचार करके मि. कर्टिस की शासनपद्धति को अस्वीकार करते हुए लौकिक व्यवहार को ही अधिक सम्मान दिया। सरकारी पक्ष का यह दावा था कि कौम की हलचल के कारण नहीं बल्कि स्वयं सरकार ही स्वतंत्ररूप से उस निर्णय पर पहुंची थी। जो हो, पर कौम ने तो 'काकतालीय न्याय' के अनुसार यही समझा कि यह उसके आन्दोलन का ही परिणाम था और स्वभावतः इससे आन्दोलन का रंग भी जमा!

हम कोई इस बात को नहीं जानते थे कि कौम के इस निश्चय अथवा आन्दोलन को किस नाम से पुकारा जाय। उस समय मैंने इस आन्दोलन का नाम "पैसिव रिझिस्टन्स" रक्खा। मैं उस समय पैसिव रिझिस्टन्स का महत्त्व भी न तो जानता था और न समझता ही था। मैं तो केवल यही जानता था कि एक नवीन वस्तु का जन्म हुआ है। पर जैसे जैसे आन्दोलन बढता गया वैसे वैसे "पैसिव रिझिस्टन्स" इस नाम से घुटाला होने लगा। और इस महान् युद्ध को एक अंगरेजी नाम से पुकारना

भी मुझे लज्जाजनक मालूम हुआ। दूसरे कौम को यह शब्द जल्दी याद होने लायक भी न था। इसलिए इस युद्ध के लिए सर्वोत्कृष्ट नाम ढूंढनेवाले के लिए मैंने "इण्डियन ओपीनियन" में एक छोटे से इनाम की घोषणा की। उत्तर में कितने ही नाम आये। उस समय युद्ध के रहस्य की चर्चा "इंडियन ओपीनियन" में अच्छी तरह हो चुकी थी। इसलिए उम्मीदवारों के लिए उस शब्द को ढूंढने के लिए प्रमाण की कोई न्यूनता न थी। मगनलाल गांधी ने भी इस प्रतिस्पर्धा में भाग लिया था। उन्होंने 'सदाग्रह' नाम भेजा। इस शब्द को पसंद करने के लिए उन्होंने अपना कारण बताते हुए लिखा था कि कौम का आन्दोलन एक भारी आग्रह है। और यह आग्रह 'सद्' अर्थात् शुभ है। इसीलिए उन्होंने इस नाम को इतना पसंद किया है। मैंने उनकी दलील का सार बहुत संक्षेप में दिया है। मुझे यह नाम पसंद तो आया तथापि मैं उसमें जिस वस्तु का समावेश करना चाहता था उसका समावेश उसमें नहीं होता था। इसलिए मैंने उसके 'द्' को त् बनाकर उसमें 'य' जोड दिया और 'सत्याग्रह' नाम तैयार कर लिया। सत्य के अंदर शान्ति को समाविष्ट मानकर किसी भी वस्तु के लिए आग्रह किया जाय तो उसमें से बल उत्पन्न होता है। इसलिए "आग्रह" के द्वारा उसमें बल का भी समावेश करके भारतीय आन्दोलन का नामाभिधान 'सत्याग्रह' अर्थात् सत्य और शांति से उत्पन्न होनेवाला बल—कर के उसका प्रयोग शुरू कर दिया। तबसे इस युद्ध को "पैसिव रिझिस्टन्स" नाम से पुकारना बंद कर दिया। सो भी यहांतक कि अंगरेजी लेखों में भी कई बार पैसिव रिझिस्टन्स को छोडकर सत्याग्रह अथवा उसी अर्थ के अन्य अंगरेजी शब्द का प्रयोग शुरू कर दिया। 'सत्याग्रह' के नाम

से पुकारी जानेवाली वस्तु का और सत्याग्रह का जन्म इसतरह हुआ। हमारे इतिहास को आगे बढाने के पहले पैसिव रिझिस्टन्स और सत्याग्रह के बीच का भेद जान लेना अधिक आवश्यक है। इसलिए अगले प्रकरण में हम वह भेद समझ लेंगे॥

अध्याय १३

सत्याग्रह बनाम पैसिव रिझिस्टन्स

जैसे जैसे आन्दोलन आगे बढता चला वैसे वैसे अंगरेज भी उसमें रस लेने लगे। मुझे यह कह देना चाहिए कि यद्यपि ट्रान्सवाल के अंगरेजी अखबार अक्सर उस खूनी कानून के पक्ष में ही लिखते और गोरों के विरोध का समर्थन करते थे, तथापि अगर कोई प्रख्यात भारतीय उनमें कोई लेख भेजते तो उसे वे खुशी से छापते थे। सरकार के पास भारतीयों की जो दरख्वास्तें जाती थी उन्हें भी वे या तो पूरी छापते थे या अखिर उनका सार दे देते थे। बडी बडी सभायें होती थीं। उनमें कभी कभी वे अपने रिपोर्टर भी भेजते थे। और जहां ऐसा न हो सकता हो तहां यदि सभा का रिपार्ट हम लिखकर भेज देते और वह छोटा होता— तो उसे ही छाप देते थे।

गोरों का यह विवेक भारतीयों के लिए बहुत उपयोगी साबित हुआ। आन्दोलन के बढते ही कितने ही गोरों का भी मन उसने आकर्षित कर लिया। इस श्रेणी के ऐसे गोरे अगुआ जोहान्सबर्ग के एक लखपति मि. हास्किन थे। उनमें रंगद्वेष का

तो पहले ही से अभाव था। पर आन्दोलन शुरु होने पर भारतीयों की हलचल में उन्होंने अधिक दिलचस्पी दिखाई। जर्मीस्टन नामक एक जोहान्सबर्ग का उपनगर है। वहांके गोरों ने मेरा भाषण सुनने के लिए अपनी उत्सुकता प्रकट की। सभा भरी गई। हास्किन अध्यक्ष थे। और मैंने भाषण दिया था। मि. हास्किन ने आन्दोलन की ओर मेरा परिचय देते हुए कहा था:—

"ट्रान्सवाल के भारतवासियों ने न्यायप्राप्ति के अन्य साधनों के निष्फल सिद्ध होने पर पैसिव रिझिस्टन्स को अखत्यार किया है। उन्हें मत देने का अधिकार नहीं है। उनकी संख्या छोटी है। वे कमजोर हैं। न उनके पास हथियार है। इसलिए उन्होंने पैसिव रिझिस्टन्स को—जोकि कमजोरों का हथियार है, ग्रहण किया है।" मैं यह सुनकर चौंक पडा। जो भाषण करने के लिए मैं गया था उसका स्वरुप बिलकुल पलट गया। वहां मिस्टर हास्किन की दलीलों का विरोध करते हुए मैंने पैसिव रिझिस्टन्स को 'सोल फोर्स' अर्थात् आत्मबल' का नाम दिया। इस सभा में मैंने यह देखा कि पैसिव रिझिस्टन्स शब्द के प्रयोग से भयंकर गलतफहमी होने का अंदेशा है। उस सभा में मैंने जो दलीलें की थी उनमें उपर्युक्त भेद समझने के लिए जो कुछ अधिक कहने की आवश्यकता है उसे भी जोड कर उन दोनों शक्तियों के अंतर्गत विरोध को समझाने का प्रयत्न करूंगा।

मैं यह तो नहीं जानता कि पैसिव रिझिस्टन्स इन दो शब्दों का अंगरेजी भाषा में पहले पहल प्रयोग किसने और कब किया। पर अंगरेजी राष्ट्र में जब किसी छोटे समाज को कोई कानून पसंद न होता था तब वह उस कानून के खिलाफ बलवा करने के बदले उसका स्वीकार ही न करता और इस कार्य के लिए उसे जो जो

सजायें होतीं उन्हें सह लेता था। अंगरेजी में इसीको पैसिव रिझिस्टन्स अर्थात् सौम्य प्रतिकार कहा है। कुछ वर्ष पहले जब अंगरेजी धारासभा ने शिक्षा कानून पास किया था उस समय डॉ. क्लिफ्फर्ड के नेतृत्व में इंग्लैंड के 'नानूकन्फामिस्ट' नामक ईसाई पक्ष ने पैसिव रिझिस्टन्स को अख्त्यार किया था। इंग्लैंड की औरतों ने मताधिकार के लिए जो जबरदस्त आन्दोलन किया था उसे भी पैसिव रिझिस्टन्स ही कहा जाता था। इन दो हलचलों को ध्यान में रखते हुए ही मि. हास्किन ने कहा था कि पैसिव रिझिस्टन्स कमजोरों का अथवा उन लोगों का शस्त्र है जिन्हें मताधिकार न हो। डॉ. क्लिफ्फर्ड के पक्ष को मताधिकार था पर उनकी संख्या सभा में इतनी कम थी कि वह उस कानून को रोकने में सफल न हुई। अर्थात् वह पक्ष संख्या में कमजोर साबित हुआ। यह बात नहीं थी कि अपने उद्देश की पूर्ति के लिए वह पक्ष शस्त्र ग्रहण कदापि न करे। पर ऐसे कामों में अगर वह शस्त्र ग्रहण करता भी तो उससे कार्यसिद्धि नहीं हो सकती थी। सुव्यवस्थित राजतंत्र में इस प्रकार एकदम बलवा करके हमेशा हक प्राप्त नहीं किये जा सकते। फिर डॉ. क्लिफ्फर्ड के पक्ष के कितने ही ईसाई ऐसे थे जो सामान्य परिस्थिति में शस्त्रास्त्रों का उपयोग हो भी सकता होता तो उसका विरोध करते। औरतों के आन्दोलन में मताधिकार तो था ही नहीं। संख्या और शारीरिक दृष्टि से भी वे आखिर कमजोर थीं। अर्थात् यह उदाहरण भी मि. हाकिन्स की दलील का समर्थन ही कर रहा था। औरतों के आन्दोलन में शस्त्रों का त्याग नहीं किया गया था। उनमें से एक पक्ष ने तो कितने ही मकान जला दिये थे—पुरुषों पर हमले तक किये थे। मैं यह नहीं जानता कि उन्होंने किसीका खून करने का भी निश्चय किया था या नहीं

पर उनका हेतु यह तो जरूर था कि मौका मिलने पर मारपीट करना और इस तरह कुछ न कुछ उपद्रव खडे करते रहना। इसके विपरीत भारतीयों के आन्दोलन में हथियारों के लिए तो कहीं भी और किसी भी परिस्थिति में स्थान न था। और जैसे जैसे हम आगे बढेंगे वैसे वैसे पाठक भी देखेंगे कि बडे बडे दुःख सत्याग्रहियों पर पडे किन्तु उन्होंने कभी शरीरबल का उपयोग नहीं किया, और वह भी ऐसे समय कि जब उसका सफलतापूर्वक उपयोग करने की उनमें शक्ति थी। दूसरे यद्यपि यह सत्य है कि भारतीयों को मताकिकार न था और वह कौम कमजोर भी थी तथापि आन्दोलन की योजना के साथ इन दोनों बातों का कोई संबन्ध न था। इससे मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि यदि भारतीयों को मताधिकार होता और उनके पास शस्त्रबल होता तो भी वे सत्याग्रह ही करते। मताधिकार होता तो प्रायः सत्याग्रह की कोई आवश्यकता ही न थी। केवल शस्त्रबल होता तो भी प्रतिपक्षी संभल कर चलता। अर्थात् यह भी समझ में आने लायक बात है कि शस्त्रबल के होते हुए भी किसी समाज को ऐसे प्रसंग आ सकते हैं जब सत्याग्रह से काम लेना पडे। मेरे कहने का तात्पर्य तो केवल यही है मैं निश्चयपूर्वक यह कह सकता हूं कि भारतीयों के आन्दोलन की योजना करते हुए मेरे दिल में यह सवाल ही खडा न हुआ था कि हम शस्त्रबल का उपयोग कर सकते हैं या नहीं। सत्याग्रह केवल आत्मा का बल है। अतः जहां जितने अंश में शरीरबल या शस्त्रबल का उपयोग होता हो या उसकी आवश्यकता प्रतीत होती हो वहां और उतने ही अंश में आत्मबल का उपयोग कम होता है। मेरे मत में तो वे दोनों विरोधी शक्तियां

है। यह विचार उस आन्दोलन के जन्म के समय भी मेरे हृदय में पूरी तरह पक्का हो गया था।

पर इस स्थान पर हमें यह निर्णय नहीं करना है कि ये विचार योग्य थे या अयोग्य। हमें तो यहां सिर्फ सत्याग्रह और पैसिव रिझिस्टन्स के बीच का भेद मात्र जान लेना है। हम यह भी देख चुके हैं कि मूलतः ही इन दो शक्तियों में भारी भेद है। इसलिए इस भेद को बगैर समझे बूझे ही अपनेको पैसिव रिझिस्टर और सत्याग्रही बतानेवाले दोनों एक-दूसरे को आपस में एक ही मानें तो दोनों के प्रति अन्याय होगा। हम स्वयं दक्षिण आफ्रिका में जब पैसिव रिझिस्टन्स शब्द का उपयोग करते थे तब ऐसे लोग तो बहुत थोडे मिलते जो मताधिकार के लिए लडनेवाली औरतों की बहादुरी और स्वार्थत्याग का हमपर आरोपण करके हमें धन्यवाद देते, पर ऐसे बहुत थे जो हमें भी उन औरतों के जैसे जानोमाल की हानि करनेवाले समझते। और मि. हाकिन्स जैसे उदार और निस्पृह मित्रों तक ने हमें कमजोर समझ लिया। विचारशक्ति का इतना भारी असर होता है कि आदमी अपनेको जैसे मानता है वैसा वह हो भी जाता है। हम तो कमजोर हैं, इसलिए दूसरे उपाय के अभाव में हम पैसिव रिझिस्टन्स का उपयोग कर रहे हैं इस तरह अगर हम मानते रहें और दूसरों को भी समझाते रहें तो हम कभी पैसिव रिझिस्टन्स करते करते बलवान् नहीं हो सकते। बल्कि मौका मिलते ही हम इस कमजोरों के शस्त्र को छोड भी देंगे। इसके विपरीत यदि हम सत्याग्रही बनें और अपनेको बलवान् मान कर उस शक्ति का उपयोग करें तो उसके दो उत्तम फल होंगे। बल के ही विचार को पुष्ट करते करते हम अधिकाधिक बलवान् होते हैं। और जैसे जैसे हमारा बल बढेगा वैसे ही

वैसे हमारे सत्याग्रह का तेज भी बढेगा । उस शक्ति को छोडने का मौका तो हमें कभी आवेगा ही नहीं । दूसरे, पैसिव रिझिस्टन्स में प्रेमभाव के लिए स्थान नहीं, इसके विपरीत सत्याग्रह में वैरभाव के लिए स्थान नहीं । इतना ही नहीं बल्कि वैरभाव अधर्म माना जायगा । पैसिव रिझिस्टन्स में मौका मिलने पर शस्त्र का उपयोग किया जा सकता है । सत्याग्रह में शस्त्रबल के लिए बढिया से बढिया अवसर प्राप्त हो तो भी वह केवल त्याज्य ही है । पैसिव रिझिस्टन्स को कई बार सशस्त्र बलवे की पूर्व तैयारी कहा जाता है । सत्याग्रह का उपयोग कभी इसतरह नहीं किया जा सकता । पैसिव रिझिस्टन्स शस्त्रबल के साथ साथ चल सकता है । सत्याग्रह तो शस्त्रबल का कट्टर विरोधी है, अतएव इसका उसका कभी मेल ही नहीं हो सकता और इसीलिए साथ साथ नहीं चल सकते । सत्याग्रह का उपयोग अपने प्रियजनों के साथ भी हो सकता है और होता है । पर पैसिव रिझिस्टन्स का उपयोग सच पूछा जाय तो प्रियजनों के साथ हो ही नहीं सकता । अर्थात् प्रियजनों को वैरी समझें तभी उनके साथ पैसिव रिझिस्टन्स हो सकता है । पैसिव रिझिस्टन्स में प्रतिपक्षी को दुःख देने की, उसे सताने की कल्पना हमेशा मौजूद रहती है । और साथ ही यह करते हुए हमें जो कष्ट हो उन्हें सहने की तैयारी होती है । इसके विपरीत सत्याग्रह में विरोधी को दुःख पहुंचाने का ख्याल तक न होना चाहिए । उसमें तो स्वयं कष्ट उठाकर, दुःख सहकर विरोधी को वश करने का ख्याल ही रहता है ।

इस प्रकार इन दो शक्तियों के बीच जो भेद है वह मैंने दिखा दिया । मेरे कहने का मतलब यह हरगिज नहीं कि पैसिव रिझिस्टन्स के जो गुण—अथवा दोष कहिए—मैं गिना चुका वे हर

प्रकार के पैसिव रिझिस्टन्स में अवश्य ही रहते हैं। पर पैसिव रिझिस्टन्स के अनेक उदाहरणों में वे बताये जा सकते हैं। पाठकों को मुझे यहांपर यह भी कह देना चाहिए कि कई ईसाई लोग ईसा को पैसिव रिझिस्टन्स का आद्य नेता बताते हैं। पर वहां तो पैसिव रिझिस्टन्स का अर्थ शुद्ध सत्याग्रह ही समझना चाहिए। इस अर्थ में ऐतिहासिक पैसिव रिझिस्टन्स के बहुत से उदाहरण नहीं मिलेंगे। रूस के जिस दूखोबोर का उल्लेख टालस्टाय ने किया है वह जरूर इसी प्रकार के पैसिव रिझिस्टन्स का अर्थात् सत्याग्रह का उदाहरण है। ईसा के बाद हजारों ईसाइयों ने जुल्म को बरदाश्त किया उस समय पैसिव रिझिस्टन्स शब्द का प्रयोग तो नहीं होता था पर उनके जैसे जितने निर्मल उदाहरण उपलब्ध हैं उन्हें तो मैं सत्याग्रह ही कहूंगा। पर अगर इन्हें भी पैसिव रिझिस्टन्स के नमूने ही हम समझें तब तो पैसिव रिझिस्टन्स और सत्याग्रह के बीच कोई भेद नहीं।

इस प्रकरण का हेतु तो केवल यह बता देना है कि अंगरेजी में सामान्यतः पैसिव रिझिस्टन्स शब्द का प्रयोग जिसतरह होता है उससे सत्याग्रह की कल्पना बिल्कुल भिन्न है।

जिस प्रकार पैसिव रिझिस्टन्स के लक्षण दिखाते समय उस शक्ति का उपयोग करनेवाले किसी भी व्यक्ति के साथ अन्याय न होने पावे इस ख्याल से मुझे उपर्युक्त चेतावनी देना पडी ठीक उसी प्रकार सत्याग्रह के गुणों को गिनाते समय मुझे यह भी कह देना चाहिए कि मैं यह दावा नहीं करता कि जितने व्यक्ति अपनेको सत्याग्रही बताते हैं उन सबमें उपर्युक्त सत्याग्रही के गुण अवश्य ही हैं। यह बात मेरे ख्याल से बाहर नहीं है कि कितने ही सत्याग्रही सत्याग्रह के उपर्युक्त गुणों से बिल्कुल अपरिचित हैं।

कितने ही यह मानते हैं कि सत्याग्रह कमजोर मनुष्यों का हथियार है। कितने ही मनुष्यों के मुंह से मैंने यह भी सुना है कि सत्याग्रह शस्त्रबल की पूर्व तैयारी है। पर मुझे फिर से यह कह देना चाहिए कि मैंने यह नहीं बताया कि सत्याग्रहियों में कौन कौन से गुण पाये जाते हैं बल्कि यह बताने का प्रयत्न किया है कि सत्याग्रह की कल्पना में क्या क्या है, और तदनुसार सत्याग्रहियों को कैसे होना चाहिए। संक्षेप में कहना चाहूं तो इस अध्याय के लिखने का हेतु यह है कि ट्रान्सवाल के भारतवासियों ने जिस शक्ति का उपयोग किया उसका पाठकों को यथार्थ ज्ञान हो, दूसरे; वह शक्ति पैसिव रिझिस्टन्स के नाम से परिचित दूसरी शक्ति के साथ न मिला दी जाय इसलिए इस शक्ति का अर्थसूचक एक शब्द ढूंढना पडा ताकि यह मालूम हो जाय कि उसमें उस समय किन किन वस्तुओं का समावेश किया गया था।

अध्याय १४

विलायत को डेप्यूटेशन

ट्रान्सवाल में 'खूनी कानून' के प्रतिकार के लिए जो जो प्रयत्न करना थे वे सब कर चुके। धारासभा ने औरतों से संबंध रखनेवाली धारा कानून से हटा दी। शेष कानून प्रायः वैसा ही पास कर दिया गया जैसा कि प्रकाशित हुआ था। इस समय तो कौम में बहुत हिंमत थी और उतना ही एका तथा मतैक्य भी था। इसलिए कोई निराश न हुआ। साथ ही यह निश्चय भी कायम रहा कि जितने वैध प्रयत्न हैं वे सब आजमा लिए जायं। इस समय ट्रान्सवाल क्राउन कालोनी था। क्राउन कालोनी से मतलब है सल्तनती संस्थान। अर्थात् वह संस्थान कि जिसके कानून और व्यवहार के लिए बडी सरकार उत्तरदायी है। मतलब यह कि जिन कानूनों को सल्तनती संस्थान की धारासभा पास करती है उनके लिए बादशाही संमति केवल आदर और व्यवहार के पालन के लिए ही नहीं ली जाती किन्तु अपने सचिव मंडल की सलाह से बादशाह उन कानूनों के लिए जो ब्रिटिशतंत्र के सिद्धान्त के खिलाफ हो अपनी संमति देने से इन्कार कर सकता है। ऐसा

कई बार हो भी चुका है। इसके विपरीत उत्तरदायित्वपूर्ण शासन (रिस्पान्सिबल गवर्मेंट) रखनेवाले संस्थानों की धारासभा जो जो कानून पास करती है उनके लिए बादशाही संमति केवल विवेक दिखाने के लिए ही ली जाती है।

यह बताने का भार मेरे सिर आया कि यदि डेप्यूटेशन इंग्लैंड भेजा जाय तो कौम अपनी जिम्मेदारी को और भी अधिक अच्छीतरह समझ लेगी। इसलिए मैंने अपने मण्डल के सामने तीन चार सूचनायें पेश की। एक तो यह कि यद्यपि उस नाट्यशालावाली सभा में प्रतिज्ञायें ले ली गई थीं तथापि एक बार और प्रधान प्रधान भारतवासियों की व्यक्तिगत प्रतिज्ञायें ले ली जायं। जिससे जनता में जरा भी कोई शंका उपस्थित हुई हो या कहीं कमजोरी ने घर किया हो तो फौरन मालूम हो जाय। यह सूचना मैंने एक तो इसलिए की थी कि यदि डेप्यूटेशन सत्याग्रह के बल को लेकर जायगा तब तो निर्भय बन कर जावेगा। और इंग्लैंड में भी कौम का निश्चय भारत के और अन्य संस्थानों के सचिवों के सामने निर्भयतापूर्वक प्रकट कर दिया जाय। दूसरे, डेप्यूटेशन के खर्च का प्रबंध पहले ही से हो जाना उचित है। और तीसरे, डेप्यूटेशन में कम से कम आदमी जावें। कई बार यह देखा गया है कि लोग यह समझते हैं कि जितने अधिक आदमी जायं उतना ही अधिक काम होता है। इसी बात को याद रखते हुए मैंने यह सूचना की थी। दूसरे मैंने इसके द्वारा यह बताना चाहा था कि डेप्यूटेशन में जानेवाले केवल अपने सन्मान के लिए नहीं बल्कि सेवा के लिए जावें। साथ ही खर्च भी बचाया जाय। यह व्यवहार दृष्टि भी याद रहे। मेरी तीनों सूचनाये मंजूर हो गईं। दस्तखत भी ले लिए गये। बहुत से

दस्तखत हुए। पर उनमें भी मैं यह देख सका कि सभा में प्रतिज्ञा लेनेवालों में से कितने ही एसे थे जो अपने दस्तखत देते हुए सकुचाते थे। एक बार प्रतिज्ञा लेने पर यदि पचास बार भी वही करना पडे तो इसमें तो कदापि संकोच न होना चाहिए। यह होते हुए भी यह किसे अनुभव नहीं है कि मनुष्य प्रतिज्ञायें करने पर भी ढीले पड जाते हैं। अथवा मुंह से की हुई प्रतिज्ञा को कागज पर लिखते हुए हिचपिचाते हैं। रुपये भी हमारे अन्दाज के मुआफिक इकट्ठे हो गये। सबसे अधिक कठिनाई तो प्रतिनिधिओं के चुनाव के बीच खडी हुई। मेरा नाम तो था ही। पर मेरे साथ कौन कौन जावे। इस विचार में कमिटि को बहुत सा समय लग गया। कितनी ही रातें व्यर्थ नष्ट हुई। और समाजों में जो जो बुराइयां देखी जाती हैं सबका पूरा पूरा अनुभव हुआ। कोई मुझे अकेला ही जाने के लिए कहते थे। वे कहते कि इसमें सबको सन्तोष रहेगा। पर मैंने इसके लिए साफ इन्कार कर दिया। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दू-मुसल्मानों का सवाल दक्षिण आफ्रिका में नहीं था। तथापि यह दावा तो कदापि नहीं किया जा सकता था कि दोनों कौमों के बीच जरा भी भेद न था और इस भेद ने कभी जहरीला स्वरूप धारण नहीं किया। इसका कारण कुछ अंश में वहांके विचित्र संयोग हो सकते हैं। पर इसका खास कारण तो यही था कि नेताओं ने एकनिष्टा से और निस्पृहतापूर्वक अपना काम करते हुए कौम को आगे बढाया था। मेरी सलाह यह थी कि मेरे साथ साथ एक मुसल्मान गृहस्थ तो होना ही चाहिए। और दो से अधिक आदमियों की आवश्यकता नहीं। पर हिन्दुओं की ओर से फौरन कहा गया कि मैं तो सारी कौम का प्रतिनिधि माना जाता हूं

अर्थात् हिन्दुओं की ओर से तो एक और प्रतिनिधि अवश्य होना चाहिए। कोई कोई यह भी कहता कि एक कोंकनी मुसलमानों की ओर से, एक मेमनों की तरफ से, और हिन्दुओं में से एक किसानों की ओर से, एक अनाविलों की तरफ से प्रतिनिधि भेजे जावें। इस प्रकार हर एक जाति अपना अपना दावा पेश कर रहीं थी पर आखिर सभीं समझ गये और मि० हाजी वजीर अली और मैं एक मन से चुने गये।

हाजी वजीर आधे मलायी कहे जा सकते हैं। उनके पिता भारतीय मुसलमान थे और माता मलायन थी। उनकी मादरी जबान को डच कह सकते हैं पर उन्होंने अंगरेजी शिक्षा भी यहांतक प्राप्त की थी कि वे अंगरेजी और डच दोनों अच्छी तरह बोल सकते थे। अंगरेजी में भाषण करते वक्त उन्हें कहीं भी ठहरना नहीं पड़ता था। अखबारों में पत्र वगैरा लिखने की आदत भी उन्होंने कर ली थी। ट्रान्सवाल ब्रिटिश ऐसोसिएशन के वे मेम्बर थे। और बहुत दिन से सार्वजनिक हलचलों में भाग लेते आये थे। हिन्दुस्तानी भी अच्छी तरह बोल सकते थे। एक मलायी महिला के साथ उनका विवाह हुआ था और उससे उनकी प्रजा का बड़ा विस्तार था। विलायत पहुंचते ही हम अपने काम में लगे। सचिव को जो अर्जी देना थी वह तो हमने स्टिमर में ही लिख डाली थी। उसे अब छपा ली। लार्ड एल्गिन संस्थानों के सचिव थे। हम हिन्द के दादा से मिले। उनके द्वारा ब्रिटिश कमिटी को मिले। उन्हें हमने अपना सारा वर्तमान सुनाया और कहा कि हम तो सब पक्षों को अपने साथ लेकर काम करना चाहते हैं। यही सलाह दादाभाई की भी थी। और कमिटी को भी यही ठीक मालूम हुआ। इसी प्रकार हम मैंचेरजी भावनगरी से मिले।

उन्होंने भी खूब सहायता की। इनकी तथा दादाभाई की यह सलाह थी कि लार्ड एल्गिन को मिलने के लिए डेप्यूटेशन जावे उस वक्त उसमें कोई तटस्थ तथा विख्यात एंग्लो इंडियन भी शामिल हो जाय तो बडा अच्छा हो। सर मैंचेरजी ने कितने ही नाम भी सुझाये। उनमें सर लेपल ग्रीफीन का भी नाम था। पाठकों को याद होगा कि इस समय सर विल्यम विल्सन हंटर जीवित न थे। अगर वे होते तो दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की स्थिति का जो प्रगाढ ज्ञान उन्हें था उसके कारण वे ही हमारे अगुआ होते, अथवा वे ही उमरावों में से किसी महान् नेता को हमारे लिए ढूंढ निकालते।

हम सर लेपल ग्रीफीन से मिले। उनकी राज्यनीति तो भारत की सार्वजनिक हलचलों की विरोधी ही थी। तथापि इस मसले के साथ उनको बडी दिलचस्पी हुई और केवल शिष्टाचार के लिए नहीं बल्कि न्यायदृष्टि से ही उन्होंने अगुआ होना कुबूल किया। सब कागज पढे और इस प्रश्न से पूरा परिचय कर लिया। हम अन्य एंग्लो इंडियनों से भी मिले, पार्लियामेन्ट के अनेक सभ्यों से मिले और उन तमाम लोगों से मिले जिनका कुछ भी वहां प्रभाव था और जिन्हें हम मिल सकते थे। लार्ड एल्गिन के पास डेप्यूटेशन गया। उन्होंने सभी बातें ध्यानपूर्वक सुन ली। अपनी हमदर्दी जाहिर की और साथ ही यह वचन भी दिया कि मुझसे जो कुछ बन पडेगा मैं अवश्य करूंगा। वही डेप्यूटेशन लार्ड मोर्ले से भी मिला, उन्होंने भी अपनी सहानुभूति प्रकट की। उनके उद्गारों का सार मैं पीछे दे चुका हूं। सर विलियम वेडरबर्न के प्रयत्नों के फलस्वरुप पार्लियामेन्ट के उन सभ्यों की जोकि भारत के शासन से संबंध रखते थे एक सभा भी उसी भरी

एक दीवानखाने में भरी गई। उसमें भी हमने अपना मामला यथाशक्ति पेश किया। उस समय आयरिश पक्ष के मुखिया मिस्टर रेडमंड थे। इसलिए हम उनसे खासकर मिलने के लिए गये थे। संक्षेप में पार्लियामेन्ट के भी तमाम पक्ष के सभ्यों में से जिन्हें जिन्हें हम मिल सकते थे उन्हें मिले। इग्लैंड में हमें कांग्रेस की ब्रिटिश कमिटी तो अवश्य ही बहुत सहायता कर रही थी। तथापि वहांके रीतिरिवाज के मुआफिक उसमें तो खास खास मत और पक्ष के मनुष्य ही आ सकते थे। इसके अतिरिक्त ऐसे कितने ही लोग थे जो उसमें नहीं आये थे पर फिर भी हमें पूरी सहायता करते थे। हमे यह मालूम हुआ कि यदि इन सबको एकत्र करके इस काम में उन्हें लगा दिया जाय तो बहुत काम हो जाय। इसलिए इस उद्देश से हमने एक स्थायी समिति स्थापन करने का निश्चय किया। यह बात तमाम पक्ष के लोगों को बहुत पसंद आई।

हर एक संस्था का उत्कर्ष या अपकर्ष प्रायः उसके मंत्री के ऊपर ही निर्भर रहता है। मंत्री ऐसा होना चाहिए जिसका उस संस्था के हेतु पर न केवल पूरा पूरा विश्वास हो बल्कि उसमें इतनी शक्ति भी होनी चाहिए कि वह उसकी सफलता के लिए अपना बहुत सा समय दे सके और उसका काम करने की उसमें पूरी योग्यता हो। मि. रिच जो दक्षिण आफ्रिका में थे और जो मेरे आफिस में गुमास्ती का काम कर चुके थे, और जो लंडन में उस समय बैरिस्टरी का अभ्यास कर रहे थे, ऐसे ही योग्य पुरुष थे उन में ये सब गुण थे। वे वहीं इंग्लैंड में थे और यह काम भी करना चाहते थे। इसलिए एक कमिटी बनाने की हम लोग हिम्मत भी कर सके।

इंग्लैंड में अथवा पश्चिम में कहिए मेरी समझ से यह एक असभ्य रिवाज चला आया है कि अच्छे अच्छे कामों का मुहूर्त खाना खाते समय निश्चय किया जाता है। इंग्लैंड का प्रधान सचिव अपने वार्षिक शासन कार्य का ब्योरा तथा आगामी वर्ष में किये जानेवाले कार्यों का विवरणयुक्त समस्त संसार का ध्यान आकर्षित करनेवाला भाषण हर नवम्बर की नवीं तारीख के दिन बडे बडे व्यापारियों के केन्द्र में स्मिथ मैन्शन हाऊस नामक भवन में देता है। लार्ड मेयर की ओर से सचिव-मंडल वगैरा को निमन्त्रण भेजा जाता है और वहां भोजन के उपरांत शराब की बोतलें खुलती हैं और अतिथि की तन्दुरस्ती की इच्छा करते हुए वह पी जाती है। और इस शुभ अथवा अशुभ (सब अपनो अपनी दृष्टि के अनुसार उचित विशेषण ढूंढ लेंगे) कार्य के बीच भाषण भी होते हैं। इसमें बादशाही सचिव-मंडल का (तन्दुरस्ती का आशीर्वाद) टोस्ट भी शामिल होता है। इस टोस्ट के उत्तर में मैंने ऊपर प्रधान सचिव के जिस भाषण का जिक्र किया वह भाषण होता है। और सार्वजनिक कामों की ही तरह खानगी कामों में भी किसीके साथ कोई सलाह मशविरा करना हो तो उसे भोजन के लिए निमन्त्रण देने का रिवाज है और कभी भोजन करते समय अथवा कभी भोजनोपरांत उस विषय को छेडा जाता है। हमें भी कई बार इस रिवाज के बश होना पडा था। पर कोई भी पाठक यह कल्पना न कर बैठें कि हमने कहीं अपेय पीया हो या अखाद्य खाया हो। इस प्रकार हमने एक दिन सुबह भोजन समारंभ के निमंत्रण भेजे और उसमें तमाम मुख्य सहायकों को निमंत्रित किया। लगभग सौ निमन्त्रण भेजे गये थे। इस भोजन का मुख्य हेतु था सभी सहायकों का उपकार मानना और उनसे

रुखसत मांगना । साथ ही स्थायी कमिटी भी बना लेना चाहते थे। उस अवसर पर भी रिवाज के मुआफिक भोजन के बाद भाषण वगैरा हुए । कमिटी की स्थापना भी हुई । इससे भी हमारे आन्दोलन का अधिक प्रचार हुआ।

इस प्रकार पांच छः सप्ताह वहां रह कर हम लोग दक्षिण आफ्रिका वापिस लौटे । मदिरा पहुंचते ही हमें मि० रिच का तार मिला कि ला. एल्गिन ने यह प्रकट किया है कि ट्रान्सवाल का एशियाटिक एक्ट नामंजूर करने के लिए सचिव-मंडल ने बादशाह से सिफारिश की है । फिर हमारे हर्ष का क्या ठिकाना ? मदिरा से केपटाऊन पहुंचते पहुंचते १४-१५ दिन लग जाते हैं । वह समय हमने बहुत आनंद के साथ बिताया । और भविष्य में अन्य दुःखों को दूर करने के लिए शेखचिल्ली के से हवाई महल बांधते रहे । पर दैवगति विचित्र है । हमारे महल कैसे गिरे—चूर चूर हो गये इसका वृतांत हम अगले अध्यायों में देखेंगे ।

पर यह अध्याय पूरा करने के पहले एक दो पवित्र स्मरणों को बगैर कहे नहीं रहा जा सकता । मुझे इतना तो जरूर ही कह देना चाहिए कि विलायत में हमने एक क्षण भी बेकाम नहीं जाने दिया । बहुत से सरक्यूलर्स भेजना वगैरा सब काम एक आदमी से कभी नहीं बन सकते । उसमें बड़ी मदद की जरूरत होती है। बहुत सी सहायता तो ऐसी है जो पैसे खर्च करने पर भी मिल सकती है पर मेरा ४० साल का अनुभव यह है कि वह उतनी गहरी और फलशील नहीं होती जैसी कि शुद्ध स्वयंसेवकों की होती है । सौभाग्य-वश हमें वहां ऐसी ही सहायता मिली थी । बहुत से भारतीय नौजवान जो वहां अध्ययन कर रहे थे वे हमारी आसपास बने रहते । और उनमें से कितने ही बिना किसी प्रकार के लोभ के

सुबह–शाम हमें एक सी सहायता करते रहते। पते लिखना, नकलें करना, टिकट चिपकाना, या डाक घर में जाना किसी भी काम के लिए मुझे यह याद नहीं आता कि उन्होंने यह कहा हो कि यह काम हमारे दर्जे को शोभा नहीं देता इसलिए हम नहीं कर सकते। पर इन सबको एक तरफ बैठा देनेवाला और मदद करनेवाला एक अंगरेज मित्र दक्षिण आफ्रिका में था। वह भारत में रह चुका था। इसका नाम था सिमंडझ। अंगरेजी में एक कहावत है जिसका अर्थ यह है कि जिन्हें परमात्मा चाहता है उन्हें वह जल्दी उठा लेता है। भरजवानी में इस परदुःखभंजन अंगरेज को यमदूत ले गये। 'परदुःखभंजन' विशेषण किसी खास उद्देश से ही लगाया गया है। यह भला भाई जब बम्बई में था तब अर्थात् सन १८९७ में प्लेग के भारतीय बीमारों के बीच वेधडक होकर उन्होंने काम किया था और उनकी उसने सहायता की थी। उडनेवाले रोग के रोगियों की सहायता करते समय मृत्यु से जरा भी न डरना यह भाव तो मानों उसके खून में भर दिया गया था। जाति अथवा रंगद्वेष उसे छू तक न गया था। उसका स्वभाव बडा ही स्वतंत्र था। उसने अपना एक सिद्धान्त बना रखा था कि माइनारिटी अर्थात अल्पसंख्या के साथ ही हमेशा सत्य रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुरूप वह जोहान्सबर्ग में मेरी ओर आकर्षित हुआ। वह कई बार विनोद में कहता कि याद रखिए आपका पक्ष बडा हुआ नहीं कि मैंने इसे छोडा नहीं। क्योंकि मैं यह माननेवाला हूं कि मेजोरिटी के हाथ में सत्य भी असत्य का रूप धारण कर लेता है। उसने बहुत कुछ पढा था। जोहान्सबर्ग के एक करोडपति सर ज्यार्ज फेरर के वे खास विश्वस्त मन्त्री थे। शोर्टहैंड लिखने में बांका था। विलायत में हम पहुंचे तब वह अनायास कहींसे

आ मिला। मुझे तो उसके घरबार की कोई मालूम नहीं थी। पर हम तो जनता के सेवक अर्थात अखबारों की चर्चा का विषय ठहरे। इसलिए उस भले अंगरेज ने हमें फौरन् ढूंढ लिया और जो कुछ सहायता हो सकती थी वह करने की तैयारी बताई। उसने कहा "अगर चपरासी का काम भी कहोगे तो जरूर करूंगा। पर यदि शार्टहैंड की आवश्यकता हो तो आप जानते ही हैं कि मेरे जैसा कुशल लेखक आपको कभी नहीं मिल सकता।" हमें तो दोनों सहायताओं की आवश्यकता थी। और इस अंगरेज ने रात-दिन एक भी पैसा न लेते हुए हमारा काम कर दिया यह कहते हुए मैं लेश मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं। रात के बारह बारह और एक एक बजे तक तो वह हमेशा टाइप-रायटर पर ही डंटा रहता। समाचार पहुंचाना, डाक घर जाना यह सब सिमंडझ करता और सब हंसते मुंह से। मुझे याद है कि इसकी मासिक आय लगभग ४५ पौंड थी। पर यह सब वह अपने मित्रों वगैरा की सहायता में लगा देता। उसकी उम्र उस समय करीब ३० साल की होगी। पर अबतक अविवाहित ही था। और आमरणान्त वैसे ही रहना चाहता भी था। मैंने इसे कुछ तो लेने के लिए बहुत आग्रह किया। पर उसने साफ इन्कार कर दिया। वह कहता कि "यदि मैं इस सेवा के लिए मजदूरी लूं तो अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाऊं।" मुझे याद है कि आखिरी रात को हमारा काम आटोपते, असबाब बांधते करते सुबह के तीन बज गये थे। पर तबतक वह भी जगता ही रहा। हमें दूसरे दिन स्टीमर पर बैठाकर ही वह हमसे जुदा हुआ। वह वियोग बडा दुःखदायी था। मैंने तो यह कई बार अनुभव किया है कि 'परोपकार' केवल गेहुंए रंग के लोगों की ही विरासत नहीं है।

सार्वजनिक कार्य करनेवाले युवकों के लिए मैं यह भी यहां कहे देता हूं कि डेप्यूटेशन के खर्च का हिसाब हमने इतनी दक्षता के साथ रक्खा था कि स्टीमर पर सोडा वाटर पीने पर उसकी जो रसीद मिलती वह भी उतने पैसों के खर्च की निशानी—सबूत के बतौर सावधानी के साथ रख ली जाती थी। उसी प्रकार तारों की रसीदें भी रख ली जातीं। मुझे अबतक यह याद नहीं आता कि कच्चे हिसाब में उस समय कहीं किरकोल पैसे लिखे गये हों। आप तो समझ लीजिए कि थे ही नहीं। "याद नहीं" यह जोडने का कारण यही कि शाम को हिसाब लिखते समय दोचार पेनी या दो चार शिलिंग याद न रहे हो और किरकोल में लिख दिये गये हों तो नहीं कह सकता। इसलिए मैंने अपवाद के लिए "याद नहीं" इन शब्दों का प्रयोग किया है।

इस जीवन में एक यह बात मैंने अच्छी तरह समझ ली है कि जबसे हम होश में आते हैं तबसे ट्रस्टी अथवा जवाबदेह बन जाते हैं। जबतक मातापिता के साथ होते हैं तबतक वे जिसकिसी काम को हमारे जिम्मे सौंपे या पैसे दें तो उनका हिसाब उन्हें अवश्य ही देना चाहिए। अगर वे विश्वास से न मांगे तो इससे हम उस जवाबदेही से मुक्त नहीं हो जाते। जब हम स्वतंत्र हो जाते हैं तब स्त्री पुत्रादिकों के प्रति हम जवाबदेह हो जाते हैं। अपनी कमाई के मालिक केवल हम नहीं हैं। वे भी उसके हिस्सेदार हैं। उनके लिए हमें पाई पाई का हिसाब रखना चाहिए। फिर सार्वजनिक जीवन में उतरने के बाद क्या कहा जाय? मैंने यह देखा है कि स्वयंसेवकों में यह एक आदत सी पड गई है कि मानों वे उनपर सौंपे गये कार्य या पैसे का कच्चा हिसाब देने के लिए बाध्य नहीं हैं, क्यों कि वे मानते हैं कि

अविश्वास के पात्र वे कभी हो ही नहीं सकते। यह तो घोर अज्ञान ही है। हिसाब रखने से विश्वास अविश्वास का कोई संबंध ही नहीं। हिसाब रखना यही स्वयं एक स्वतंत्र धर्म है। उसके बिना स्वयं हमें अपने काम को ही मलिन समझना चाहिए। और जिस संस्था के हम स्वयंसेवक हों उसके नेता अगर मिथ्या शिष्टाचार के वश हो कर या उससे डर कर हमसे हिसाब न मांगे तो वे भी दोष के पात्र हैं। काम का और रुपयों का हिसाब रखने का भार जितना तनख्वाह देनेवाले के सिर पर है उससे दूना खुद स्वयंसेवकों के ऊपर है। क्योंकि उसने तो अपने काम को ही तनख्वाह समझ कर अपने सिर पर लिया है। यह बात बडी ही महत्वपूर्ण है। और यह मैं मानता हूं कि सामान्यतः इस बात की ओर अनेक संस्थाओं में यथोचित ध्यान नहीं दिया जाता। इसीलिए मैंने इस अध्याय में इतना स्थान उसके लिए रोकने की हिंमत की है।

अध्याय १५

वक्र राजनीति अथवा क्षणिक हर्ष

केपटाऊन में उतरते ही और खासकर जोहान्सबर्ग पहुंचकर हमने देखा कि मदिरा में मिले हुए तार को हम जितना महत्त्व देते थे वास्तव में उतना वह महत्त्वपूर्ण नहीं था। उसके भेजनेवाले मि. रिच का उसमें कोई दोष न था। उन्होंने तो कानून नामंजूर होने के विषय में जो कुछ सुना था वही तार से लिख भेजा था। हम ऊपर देख चुके हैं कि उस समय ट्रान्सवाल सल्तनती संस्थान था। ऐसे संस्थानों के राजदूत सचिवों को अपने संस्थान की हालत से हमेशा परिचित रखने के लिए इंग्लैंड में रहते हैं। ट्रान्सवाल की ओर से सर रिचर्ड सालोमन दक्षिण आफ्रिका के ख्यातनामा वकील – राजदूत थे। उस 'खूनी कानून' को नामंजूर करने का प्रस्ताव लार्ड एल्गिन ने सर रिचर्ड सालोमन की सलाह से ही किया था। सन १९०७ की जनवरी की पहली तारीख से ट्रान्सवाल को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन दिया जानेवाला था। इसलिए लार्ड एल्गिन ने सर रिचर्ड सालोमन को यह आश्वासन दिया कि यदि यही कानून उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की धारा-सभा में स्वीकृत हो जाय तो बडी सरकार उसे नामंजूर नहीं करेगी। पर जबतक ट्रान्सवाल सल्तनती संस्थान रहेगा, तबतक

ऐसे भेदभरे कानून के लिए ठेठ बडी सरकार जिम्मेदार मानी जाती है। और बडी सरकार के शासन-विधान में ऐसे भेदमूलक कानूनों को स्थान नहीं दिया जाता। इसलिए इस सिद्धान्त के ख्याल से फिलहाल तो मुझे बादशाह को यही सलाह देनी चाहिए कि वह उसे नामंजूर कर दे।"

सर रिचर्ड सालोमन को इस बात के लिए तिलमात्र भी अपत्ति नहीं थी, कि अभी नाम मात्र के लिए कानून रद्द हो जाय और आगे चल कर गोरों का भी काम अनायास बन जाय। और हो भी कैसे सकती है? इस राज्यनीति के लिए ऊपर मैंने वक्र विशेषण लगाया है पर यदि यथार्थतः इससे भी तीव्र विशेषण लगाया जाता तो मेरे ख्याल से उस राज्यनीति के ,लकों के प्रति कोई अन्याय न होता। सल्तनती संस्थान के क ूनों के लिए ठेठ बडी सरकार जिम्मेदार रहती है। उसके विधान में रंग और जातिभेद को स्थान नहीं है। ये दोनों बातें हैं तो बडी सुंदर। यह बात भी समझ में आनेयोग्य है कि जवाबदेह-उत्तर दायित्वपूर्ण राज्यसत्ता रखनेवाले संस्थान जिन कानूनों को बनावे उन्हें बडी सरकार एकाएक रद नहीं कर सकती। पर संस्थानों के राजदूतों के साथ छिपकर सलाह मशविरा करना, उन्हें पहले ही से बडी सरकार के शासन-विधान के प्रतिकूल कानूनों को नामंजूर न करने का वचन देना, क्या इसमें जिनके सत्वों का अपहरण हो रहा हो, उनके साथ दगा और अन्याय नहीं होता है। सच पूछा जाय तो लार्ड एल्गिन ने अपने इस वचन द्वारा ट्रान्सवाल के गोरों को भारतीयों के खिलाफ अपनी हलचल शुरु रखने के लिए मानों उत्साहित ही किया। अगर ऐसा ही उन्हें करना था तो भारतीय प्रतिनिधियों को वैसा साफ साफ कह देना था। यथार्थतः देखा

जाय तो उत्तरदायित्वपूर्ण शासन रखनेवाले संस्थानों के कानून के लिए भी बडी सरकार अवश्य ही जिम्मेदार है। ब्रिटिश शासन-विधान के मूल सिद्धान्तों को उत्तरदायित्वपूर्ण शासनयुक्त संस्थानों को भी अवश्य ही मंजूर करना पडते हैं, जैसे कि किसी भी उत्तरदायित्वपूर्ण शासन रखनेवाले संस्थान की तरफ से कानूनन् गुलामी की प्रथा का पुनरुद्धार नहीं किया जा सकता है। अगर लार्ड एल्गिन ने खूनी कानून को अयोग्य समझकर ही रद किया हो — और वैसे समझकर ही रद किया जा सकता है — तो उनका यह स्पष्ट कर्तव्य था कि वे सर रिचर्ड सालोमन् को एकान्त में बुला कर यह कह देते कि ट्रान्सवाल को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन मिलने पर वह कभी ऐसा अन्यायपूर्ण कानून न बनावे, और अगर उसका यही विचार हो कि वह तो ऐसे कानून बनावेगा तब तो उसको वह शासनसत्ता सौंपी जाय या नहीं इस बातका बडी सरकार को विचार करना पडेगा या उसे वह सत्ता केवल इसी शर्त पर दी जाय कि वह भारतीयों के स्वत्वों की रक्षा करे। यह न करते हुए लार्ड एल्गिन ने ऊपर से तो भारतियों की हिमायत करने का ढोंग रचा और उसी समय भीतर से सच्ची सच्ची सहायता ट्रान्सवाल सरकार की की। और जो कानून स्वयं रद किया उसीको फिर पास करने के लिए उन्हें उत्तेजित किया। ऐसी वक्र राजनीति का यह पहला ही या एकमात्र उदाहरण नहीं। जिसने ब्रिटिश शासन प्रणाली का साधारण भी अध्ययन किया है वह और भी कितने ही ऐसे कानून बता सकता है।

इसलिए जोहान्सबर्ग में हमने केवल यही बात सुनी कि लार्ड एल्गिन ने और बडी सरकार ने हमारे साथ धोखा किया। हमें तो मदिरा में जितना आनन्द हुआ था उतनी ही दक्षिण आफ्रिका

में निराशा हुई। तथापि इस वक्रता का तात्कालिक परिणाम तो यह हुआ कि कौम में और भी जोश उत्पन्न हो गया। अब सभी कहने लग गये कि हमें क्या परवाह है? हम कब बड़ी सरकार की सहायता के लिए झगड़नेवाले हैं? हमें तो अपने बल पर और जिसके लिए प्रतिज्ञा की उस परमात्मा के आधार पर लड़ना है। और अगर हम सच्चे बने रहे तो वह टेढ़ी राजनीति भी सीधी हो जायगी।

ट्रान्सवाल में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना हो गई। उसका पहला कदम था बजट और दूसरा वह "खूनी कानून"। एक दो शब्दों को यहां वहां छोड़कर वह वैसा ही पास हुआ जैसा कि पहले बनाया गया था और पास हुआ था। इन शब्दों के रद्दोबदल का कानून की सख्ती के साथ कोई संबंध नहीं था। वह तो जैसी थी वैसी ही कायम रही। अर्थात् कानून का रद्द होना तो मात्र स्वप्नसृष्टि की बात रह गई। भारतीयों ने रवाज के अनुसार अर्जियां वगैरा तो कीं पर इनकी तूती की आवाज कौन सुनता। उस कानून के अनुसार नवीन परवाने लेने के लिए उसी साल के (१९०७) अगस्त की पहली तारीख का दिन निश्चित किया गया। इतनी लंबी मीयाद रखने का कारण यह नहीं था कि भारतीयों के साथ कोई रियायत की जाय, बल्कि यह था कि शासन-विधान के अनुसार बड़ी सरकार की भी सम्मति लेना बाकी था। उसके लिए अवश्य ही कुछ समय लगता। दूसरे उसके परिशिष्ट के अनुसार कई पत्रक, किताबें, परवाने वगैरा कई चीजें तैयार करवाना थीं। स्थान स्थान पर परवानों के दफ्तर खोलना, वगैरा काम के लिए भी कुछ समय की आवश्यकता थी। इन पांच छः महीनों का समय ट्रान्सवाल सरकार ने अपनी ही सुविधा के लिए दिया था।

अध्याय १६

अहमद महम्मद काछलिया

डेप्यूटेशन जब विलायत जा रहा था तब दक्षिण अफ्रिका में रहे हुए एक अंगरेज ने मेरे मुंह से ट्रान्सवाल के कानून की बात सुनी और साथ ही जब हमारा विलायत जाने का कारण भी सुना तब वह बोल उठा "आप कुत्ते का पट्टा (डॉग्स कॉलर) पहनने से इन्कार करना चाहते हैं।" उस अंगरेज ने ट्रान्सवाल के परवाने को यह नाम रक्खा था। यह बात तो मैं उस समय और उस घटना का उल्लेख करते समय अभीतक भी नहीं समझा कि उसने ये वचन अपने पट्टे के लिए खुश होकर तथा भारतीयों के प्रति तिरस्कार बताते हुए कहा था या उनकी अवस्था के प्रति सहानुभूति दिखाते हुए कहा था। तथापि इस सुनीति का अनुसरण करते हुए कि किसी भी मनुष्य के कहने का अर्थ इस तरह नहीं कल्पना चाहिए कि जिससे उसके साथ कोई अन्याय हो, मैं उस अंगरेज के शब्दों का अर्थ यही बताता हूं कि उसने वे हमारी स्थिति का यथार्थ बोध देनेवाले शब्द हमारे साथ हमदर्दी दिखाने के लिए ही कहे थे। एक ओर से ट्रान्सवाल सरकार हमें यह पट्टा पहनाने की

कोशिश कर रही थी, तहां दूसरी ओर से कौम इस बात की तैयारियां कर रही थी कि वह अपने निश्चय पर किस प्रकार कायम रह सकती है तथा वहांकी सरकार की कुनीति का सामना कैसे किया जा सकता है। इंग्लैंड और भारत के मित्रों को पत्र वगैरा लिखकर वर्तमान परिस्थिति से परिचित रखने का काम तो शुरू ही था। पर सत्याग्रह का युद्ध बाह्योपचारों पर बहुत कम निर्भर रहता है। भीतरी उपचारों पर ही उसकी विजय निर्भर रहती है। इससे कौम के तमाम अंग ताजे और तेजतर्रार रहते हैं। नेताओं का समय इन उपायों में ही नष्ट होता था।

अब कौम के सामने यह महत्त्व का प्रश्न खडा हुआ कि सत्याग्रह का काम किस मंडल के द्वारा लिया जाय। ट्रान्सवाल ब्रिटिश एसोसिएशन में तो बहुत से सदस्य थे। उसकी स्थापना के समय सत्याग्रह का जन्म भी न हुआ था। उस मंडल को एक नहीं अनेक कानूनों के साथ झगडना पडता था और अब भी झगडना था। इसके अतिरिक्त भी उसे कई सामाजिक और राजनैतिक काम करना थे। दूसरे, यह बात भी नहीं थी कि उस मण्डल के तमाम सभासदों ने प्रतिज्ञा ली हो। साथ ही उस मण्डल को अन्य बाहरी जिम्मेदारियों का भी ख्याल रखना था। सत्याग्रह के आन्दोलन को ट्रान्सवाल सरकार राज्यद्रोही माने तो? और साथ ही इस आन्दोलन को संचालित करनेवाली संस्थाओं को भी राजद्रोही ठहरा दे तो? इस संस्था के जो सदस्य सत्याग्रही न हों उनका क्या हो? सत्याग्रह के पहले से जिन्होंने उस संस्था को पैसे दे रक्खे हों उनके पैसे का क्या किया जायगा? ये बातें भी अवश्य ही विचारणीय थीं। अन्त में सत्याग्रही का यह दृढ निश्चय था कि जो लोग अश्रद्धा, कमजोरी या अन्य किसी कारण से सत्या-

ग्रह में सम्मिलत न हो सकें उनके प्रति द्वेषभाव नहीं रक्खा जाय इतना ही नहीं बल्कि उनके साथ जिस स्नेहभाव से अभीतक रहते आये हैं उसमें कोई भी परिवर्तन न होने दिया जाय और सत्याग्रह को छोडकर अन्य हलचलों में उनसे मिलजुल कर ही काम काज किया जाय।

इन विचारों के कारण कौम इस निश्चय पर पहुंची कि किसी भी वर्तमान मंडल के द्वारा सत्याग्रह का संचालन न किया जाय। अन्य मंडलों से जितनी सहायता हो सके वे करें, और सत्याग्रह को छोडकर इस खूनी कानून के खिलाफ जितने उपायों का अवलंबन किया जा सके वे करें। इसलिए "पैसिव रिझिस्टन्स ऐसोसिएशन" अथवा सत्याग्रह-मंडल नामक ए नवीन मंडल की स्थापना सत्याग्रहियों ने की। अंगरेजी नाम पर से पाठक इस बात का पता लगा सकते हैं कि जिस समय उपर्युक्त मंडल की स्थापना हुई उस समय तक 'सत्याग्रह' शब्द का जन्म नहीं हुआ था। जैसे जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे कौम को यह अनुभव होने लगा कि नवीन मंडल की स्थापना द्वारा हर प्रकार से उसे फायदा ही हुआ है और अगर ऐसा हम न करते तो शायद उस आन्दोलन को हानि ही पहुंचती। इस नवीन मंडल के सदस्य भी बहुतसे लोग हुए और खुले हाथों से उन्होंने आर्थिक सहायता भी की।

मेरा अनुभव तो मुझसे यह कह रहा है कि कोई भी हलचल केवल धनाभाव से न तो गिरती, न अटकती या निस्तेज ही होती है। इसका मतलब यह नहीं कि कोई भी हलचल संसार में बिना रुपयों के चल सकती हो। बल्कि उसका अर्थ यह जरूर है कि जहां पर सच्चे संचालक होते हैं वहां रुपया अपने आप चला आता है।

इसके विपरीत मेरा यह भी अनुभव है कि जिस संस्था को खूब धन मिल जाता है उसकी अवनति उसी समय से शुरू हो जाती है इसलिए मेरे अनुभव से मैंने यह एक सिद्धान्त भी स्थिर कर लिया है कि बहुत सा धन इकट्ठा करके उसके सूद से किसी सार्वजनिक संस्था का संचालन करना — पाप है यह कहते हुए मेरी हिम्मत नहीं पडती इसलिए — अयोग्य है यही कह देता हूं। सार्वजनिक संस्था का कोश तो जनता ही है। जहांतक वह उन्हें चाहे तभी तक ऐसी संस्थाओं को जीवित रहना चाहिए। कोश इकट्ठा करके उसके सूद पर चलनेवाली संस्थायें सार्वजनिक नहीं रहती। वे स्वतन्त्र और स्वामी बन जाती ह। सार्वजनिक टीका टिप्पणी के आगे वे सिर नहीं झुकातीं। सूद पर चलनेवाली कितनी ही सांसारिक तथा परमार्थिक संस्थाओं में जो बुराइयां घुस बैठी हैं उन्हें यहां पर लिखने की आवश्यकता नहीं। वह तो लगभग स्वयंसिद्ध जैसी ही बात है।

फिर हम मूल विषय को लें। बारीक बारीक दलीलें तथा छोटी छोटो बातों पर नुक्ताचीनी करने का ठीका केवल वकीलो ने या अंगरेजी पढे लिखे सुधारको ने नहीं ले रक्खा है। मैंने तो यह देखा है कि दक्षिण आफ्रिका के अपढ भारतीय भी बहुत बारीक दलील कर सकते हैं। कितनों ही ने यह दलील ढूंढी कि पहले खूनी कानून के रद्द होते ही नाट्यशाला में की गई प्रतिज्ञायें भी रद्द हो गई। कमजोरी के मारे कितनों ही ने इस दलील की छाया का आश्रय लिया। यह नहीं कहा जा सकता कि दलील बिल्कुल ही व्यर्थ थी। तथापि जो लोग उस कानून का प्रतिकार समझ कर नहीं बल्कि उसके अन्दर छिपे हुए तत्त्व के खिलाफ लड रहे थे उनपर तो यह दलील कोई असर न कर सकती थी। तथापि

बतौर सावधानी के और जनता में अधिक जाग्रति के लिए और यह देखने के लिए कि जनता में अगर कुछ कमजोरी घुस गई हो तो वह कहांतक गई है फिर से प्रतिज्ञा लिवाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसीलिए स्थान स्थान पर सभायें भरकर लोगों को परिस्थिति समझाई गई और फिरसे प्रतिज्ञा लिवाई गई। पर यह कहीं देखने में नहीं आया कि जनता का उत्साह जरा भी कम हुआ है।

इधर जुलाई का महीना नजदीक आता जा रहा था। इसी समय ट्रान्सवाल की राजधानी प्रिटोरिया में एक विराट सभा भरने का निश्चय हुआ था। अन्य शहरों से भी प्रतिनिधि निमन्त्रित किये गये थे। सभा प्रिटोरिया की मस्जिद के सामने के चौगान में भरने का निश्चय हुआ था। सत्याग्रह शुरू होने पर तो इतने आदमी उसमें आने लगे कि मकानों के अन्दर सभा भरना हमारे लिए असम्भव हो गया। ट्रान्सवाल भर में भारतीयों की संख्या १३,००० से अधिक न होगी। उसमें से १०,००० तो जोहान्सबर्ग और प्रिटोरिया में ही बंट गये थे। इनमें से भी पांच छः हजार लोगों का सभा में आना यह परिमाण संसार के किसी भी हिस्से में बहुत बडा और अत्यन्त सन्तोष-जनक कहा जा सकता है। सार्वजनिक सत्याग्रह का युद्ध अन्य किसी शर्त पर लडा भी नहीं जा सकता। जिस युद्ध का प्रधान आधार केवल अपनी ही शक्ति पर है उसमें अगर उस विषय की सार्वजनिक तालीम न दी जा सके तब तो वह युद्ध चल ही नहीं सकता। इसलिए हम कार्यकर्त्ताओं को इतनी उपस्थिति देखकर जरा भी आश्चर्य न होता था। हमने पहले ही से यह निश्चय कर लिया था कि सार्वजनिक सभायें मैदान में ही भरी जायं। इससे एक तो खर्च कुछ

लगता था और दूसरे स्थानाभाव के कारण किसी भी मनुष्य को निराश हो कर वापिस नहीं लौटना पडता था । यहांपर यह भी कह देना आवश्यक है कि ये सभी सभायें प्रायः अत्यन्त शान्ति-पूर्वक होती थी । आनेवाले सभी ध्यान से सुनते रहते थे । अगर कोई कोई बहुत दूर खडे रहते और उन्हें भाषण सुनाई न पडता तो वे जोर से बोलने के लिए सूचना कर देते थे । पाठकों को यह कहने की आवश्यकता तो नहीं होगी कि इन सभाओं में कुर्सी वगैरा की व्यवस्था बिल्कुल नहीं रक्खी जाती थी । सभी जमीन पर बैठ जाते थे । केवल अध्यक्ष, वक्ता और दो-चार अन्य आदमी अध्यक्ष के आसपास बैठ सकें इतना बडा मंच रक्खा जाता था । उसपर एक छोटी सी मेज और दो चार कुर्सियां या स्टूल्स ।

प्रिटोरिया की इस सभा के अध्यक्ष एसोशिएशन की प्रिटोरिया शाखा के अधिपति सेठ तैयब हाजी खानमहम्मद थे । खूनी कानून के अनुसार परवाना निकालने के दिन ज्यों ज्यों नजदीक आते जा रहे थे वैसे वैसे, जिस प्रकार भारतीय खूब उत्साह के होते हुए भी चिंतातुर थे उसी प्रकार उधर जनरल बोथा और स्मट्स उनकी सरकार के पास अमोघ बल के होते हुए भी चिंताग्रस्त हो रहे थे । एक सारी कौम पर बलप्रयोग कर के उसे झुकाना इसे तो कोई भी अच्छी बात नहीं समझ सकता । इसलिए जनरल बोथा ने मि० हास्किन को हमें समझाने के लिए इस सभा में भेजा । मि० हास्किन का परिचय मैं अध्याय ७ में दे चुका हूं । सभा ने उनका स्वागत किया । उन्होंने अपने भाषण में कहा :—

"मैं आपका मित्र हूं । आप यह जानते भी हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि आपके साथ मेरी सहानुभूति है । अगर मुझसे हो सकता तो मैं आपकी मांग को मंजूर करा देता । पर यहांके

सर्वसाधारण गोरे समाज के विरोध के विषय में आपको आज नवीन चेतावनी देने की आवश्यकता नहीं है। आज मैं आपके पास जनरल बोथा का भेजा आ रहा हूं। उन्होंने मुझे इस सभा में आपको उनका संदेश सुनाने की आज्ञा की है। वे भारतीयों का सन्मान करते हैं। कौम के भावों को समझते हैं। पर वे कहते हैं 'मैं लाचार हूं। ट्रान्सवाल के सभी गोरे उस कानून को मांगते हैं। स्वयं मैं भी उसकी आवश्यकता देखता हूं। ट्रान्सवाल सरकार की शक्ति से भारतीय भलीभांति परिचित हैं। इस कानून में बडी सरकार की भी सम्मति है। भारतियों को जितना करना चाहिए था वे कर गुजरे और उन्होंने अपने स्वाभिमान की रक्षा की। पर जिस हालत में कौम का विरोध सफल नहीं हुआ और कानून पास हो गया उस हालत में अब कौम को चाहिए कि वह अब उसे माने और अपनी वफादारी तथा शांतिप्रियता का परिचय दे। इस कानून के अनुसार जो धारायें बनाई गई हैं उनमें अगर कोई छोटा सा फेरफार कराना हो और उसके विषय में कुछ कहना हो तो जनरल स्मट्स आपका कहना ध्यानपूर्वक सुनेंगे।" इस प्रकार संदेश सुना कर मि. हास्किन ने कहा कि मैं भी आपको यही सलाह दूंगा कि आप जनरल बोथा के संदेश को मान लें। मैं जानता हूं कि ट्रान्सवाल की सरकार इस कानून के विषय में बडी दृढ है, उसका सामना करना मानों दीवाल से अपना सिर फोडना है। मैं चाहता हूं कि आपकी कौम उसका सामना करके बरबाद न हो और व्यर्थ के कष्टों को निमन्त्रण न दे। इस भाषण के एक एक अक्षर का अनुवाद करके कौम को समझा दिया गया। मैंने अपनी ओर से भी चेतावनी दे दी, और मि. हास्किन करतल ध्वनि के बीच वहांसे बिदा हो गये।

भारतीयों के भाषण शुरू हुए। इस प्रकरण के और सच पूछा जाय तो इस इतिहास के नायक का परिचय तो मुझे अभी देना ही बाकी है। जो वक्ता खडे हुए उनमें स्वर्गीय अहमद महम्मद काछलिया भी थे। उन्हें तो मैं एक मवक्किल और दुभाषिये की हैसियत से जानता था। वे अभीतक किसी हलचल में आगे हो कर भाग नहीं लेते थे। उनका अंगरेजी भाषा का ज्ञान कामचलाऊ था। पर अनुभव से उन्होंने उसे यहांतक बढा लिया कि अपने मित्रों को जब वे अंगरेज वकीलों के यहां ले जाते तब दुभाषिये का काम वे स्वयं ही करते थे। कोई उनका पेशा दुभाषिये का नहीं था। यह काम तो वे बतौर मित्र के ही करते थे। पहले पहल वे कपडे की फेरी लगाते थे। बाद उन्होंने अपने भाई के हिस्से में छोटे पैमाने पर व्यापार शुरू किया था। वे सूरती मेमन थे। उनका जन्म सूरत जिले में ही हुआ था। सूरती मेमनों में उनकी खासी प्रतिष्ठा थी। गुजराती का ज्ञान भी वैसा ही था। अनुभव से उसे खूब बढा लिया था। पर उनकी बुद्धि इतनी तेज थी कि वे चाहे जिस बात को बडी आसानी से समझ लेते थे। केसों की उलझन इसप्रकार स्पष्ट करते कि मैं तो कई बार चकित हो जाता। वकीलों के साथ कानूनी दलीलें करने में भी जरा न डरते थे। और कई बार उनकी दलीलें एसी होती कि वकीलों को भी विचार करना पडता।

बहादुरी और एकनिष्ठा में उनसे बढकर आदमी मुझे न तो दक्षिण आफ्रिका में मिला और न भारत में मिला। कौम के लिए उन्होंने अपने सर्वस्व की आहूति दे दी थी। उनके साथ जितनी बार मुझे काम पडा उन सब प्रसंगो पर मैंने उन्हें एक-वचनी ही पाया। स्वयं चुस्त मुसलमान थे। सूरती मेमन मसजीद के

मुतवल्लियों में वे भी एक थे। पर साथ ही वे हिन्दू और मुसलमानों के लिए समदर्शी थे। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं आता कि जब उन्होंने धर्मान्ध बनकर हिन्दुओं के खिलाफ किसी बात की खींचातानी की हो। वे बिलकुल निडर और निष्पक्ष थे इसलिए मौकेपर हिन्दू और मुसलमानों को भी उनका दोष दिखाते समय उन्हें जरा-भी संकोच न होता था। उनकी सादगी और निरभिमानता अनुकरणीय थी। उनके साथ मेरा जो बरसों का संबंध रहा उसपर से मुझे यह दृढ विश्वास हो चुका है कि: स्वर्गीय अहमद महम्मद काछलिया जैसा पुरुष कौम को फिर मिलना कठिन है।

प्रिटोरिया की सभा में बोलनेवालों में एक यह पुरुष भी था। उसने बहुत ही छोटा भाषण किया। वे बोले इस खूनी कानून को हरएक हिन्दुस्तानी जानता है। उसका अर्थ हम सब जानते हैं। मि. हास्किन का भाषण मैंने खूब ध्यान लगाकर सुना। आपने भी सुना। मुझपर तो उसका एक ही असर हुआ है। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा पर और भी दृढ हो गया हूं। ट्रान्सवाल सरकार की ताकत को हम जानते हैं। पर इस खूनी कानून से अधिक किस बात का डर हमें वह सरकार बता सकती है? जेल भेजेगी, जायदाद बेंच देगी, हमें देश से बाहर कर देगी—फांसी पर लटका देगी। यह सब हम बरदाश्त कर सकते हैं। पर इस कानून के आगे सिर झुकाना असंभव है। मैं देखता था कि यह सब बोलते हुए अहमद महम्मद काछलिया अधिकाधिक उत्तेजित होते जा रहे थे। उनका चेहरा लाल हो रहा था। सिर और गर्दन की रगें खून के जोर के मारे बाहर उठ आई थीं। बदन कांप रहा था। अपने दाहिने हाथ की उंगलियां गर्दन पर रखकर वे गरजे "मैं

खुदा की कसम खाकर कहता हूं कि मैं कत्ल हो जाऊंगा पर इस कानून को नहीं मान सकता। और मैं चाहता हूं कि यह सभा भी यही निश्चय करे।" यह कह कर वे बैठ गये। जब उन्होंने गर्दन पर हाथ रक्खा तब मंच पर बैठे हुए कितने ही लोगों के मुंह पर स्मित दिखाई दिया। मुझे याद है कि मैं भी उसमें था। जितने जोर के साथ काछलिया सेठ ने ये शब्द कहे थे उतना जोर अपनी कृति में वे दिखा सकेंगे या नहीं इस बात का मुझे जरा संदेह था। पर संदेहवाली बात का जब विचार करता हूं तब और यहां लिखते समय भी मुझे शर्म आती है। इस महान् युद्ध में जिन बहुत से आदमियों ने अपनी प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन किया था, काछलिया सेठ उनमें अग्रगण्य थे। मैंने कभी उन्हें अपना रंग पलटते हुए नहीं देखा।

सभा ने तो इस भाषण का करतलध्वनि से स्वागत किया। मेरी अपेक्षा अन्य सभासद उन्हें इस समय बहुत अधिक जानते थे। क्योंकि उनमें से अधिकांश को तो इस गूदडी के लाल से व्यक्तिगत परिचय था। वे जानते थे कि काछलिया जो करना चाहते हैं वही करते हैं। और जो कहते हैं उसे अवश्य ही पूरा करते हैं। और भी कई जोशीले भाषण हुए। काछलिया सेठ के भाषण को उनमें से इसीलिए छांट लिया क्योंकि उनकी बाद की कृति से उनका यह भाषण भविष्यवाणी रूप साबित हुआ। जोशीले भाषणों के करनेवाले सभी आखिर तक नहीं टिक सके। इस पुरुषसिंह की मृत्यु कौम का बोझ उठाने में ही सन १९१८ में अर्थात् यह युद्ध खतम होने पर चार साल बाद हुई।

उनका एक और स्मरण है। उसे और कहीं नहीं दिया जा सकता, इसलिए यहीं पर लिख देता हूं। पाठक आगे चलकर

टाल्स्टाय फार्म का किस्सा पढेंगे। उसमें सत्याग्रहिओं के कुटुम्ब रहते थे। वहां आपने अपने पुत्र को भी मिशाल पेश करने तथा सादगी और जाति सेवा का पाठ पढाने के लिए रक्खा था। और इसीको देखकर अन्य मुसलमान माता पिताओं ने भी अपने बच्चों को इस फार्म पर भेजे थे। जवान काछलिया का नाम अली था। उम्र १०–१२ साल की होगी। अली नम्र, चपल, सत्यवादी और सरल लडका था। लडाई के बाद, पर काछलिया सेठ के पहले उसे भी फिरिश्ते खुदा के दरबार में ले गये। पर मेरा विश्वास है कि वह जीता रहता तो अपने पिता को जरूर शोभारूप होता।

अध्याय १७

पहली फूट

१९०७ का जुलाई महीना बीत चला। परवाने लेने के दफ्तर खुले। कौमी हुक्म था कि हरएक दफ्तर पर खुले तौर पर पहरा लगाना, अर्थात् दफ्तरों पर जानेवाले रास्तों पर स्वयंसेवक खडे रहें और वे दफ्तरों में जानेवाले लोगों को सावधान करें। हरएक स्वयंसेवक को एक खास चिह्न अपने पास रखना चाहिए। हरएक स्वयंसेवक को यह खास शिक्षा दी गई थी कि परवाना लेनेवाले किसी भी भारतीय के साथ वह असभ्यता का बर्ताव न करे। वह उसका नाम पूछे। अगर वह न बतावे तो स्वयंसेवक किसी प्रकार का बल प्रयोग या अविनयपूर्ण व्यवहार न करे। कानून से होने-वाली हानियों का छपा कागज एशियाटिक आफिस में जानेवाले हरएक भारतीय को दे दिया जाय। उसमें लिखी बातें भी समझा दें। स्वयंसेवक पुलिस के साथ भी अदब के साथ वर्ताव करें। पुलिस गालियां दें, मारे, पीटे तो उसे भी सह लें। अगर वह मार को सहन न कर सकता हो तो वहांसे चल दे। अगर पुलिस पकडे खुशी से अपनेको उसे सौंप दे। जोहान्सबर्ग अगर कहीं ऐसी जगह

हो तो स्वयं मुझे खबर करे। अन्य स्थानों पर अपने अपने स्थानीय नेताओं को खबर करें। और वे जैसा कहे उसी प्रकार करें। हरएक टुकडी का एक मुखिया रहता है। मुखिया के हुक्म के अनुसार अन्य पहेरेदारों को पहरा करना चाहिए।

कौम के लिए अपनी जाति का यह पहला ही अनुभव था। बारह साल से अधिक उम्रवाले व्यक्ति को ही पहरेदार चुना जाता था। इसलिए बारह से ले कर अठारह साल तक की उम्रवाले कई लडकों ने अपने नाम लिखाये थे। पर ऐसे व्यक्ति को कदापि नहीं लिया जाता था जिसे स्थानीय कार्यकर्त्ता न पहचानते हों। इतनी सावधानी लेने पर भी हरएक सभा में और अन्य रीति से भी लोगों को यह कह दिया गया था कि जो अपनी आर्थिक हानि के भय अथवा अन्य किसी कारण से परवाना निकालना तो चाहते हों पर पहरों के भय के कारण ऐसा न कर सकते हों उनको नेताओं की ओर से खास एक स्वयंसेवक दिया जायगा जो उन्हें ठेठ एशियाटिक आफिस में छोड आवेगा। और उनका काम होते ही फिर वापिस उन्हें स्वयंसेवकों के पहरे के बाहर लाकर छोड देगा। कितनों ही ने इस इन्तजाम से फायदा उठाया भी था। हरएक स्थानपर स्वयंसेवकों ने बडी ही उमंग के साथ काम किया। वे हमेशा अपने काम में चपल और जाग्रत रहते। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि पुलिस ने अधिक नहीं सताया। जहां कहीं थोडा बहुत सताया वहां स्वयंसेवकों ने उसे सह लिया।

इस काम में स्वयंसेवकों ने हास्यरस को भी खूब बहाया था। कभी कभी उनमें पुलिस भी शामिल हो जाती थी। अपना समय सानंद बिताने के लिए स्वयंसेवक कई प्रकार के लटके ढूंढ निकालते। एक बार रास्ता रोकने के बहाने राहदारी की धारा के

अनुसार उन्हें गिरफ्तार भी किया गया था । वहांके सत्याग्रह में असहयोग शामिल नहीं किया था । अतएव यह कोई नियम न था कि अदालतों में अपना बचाव न किया जाय। तथापि यह सामान्य नियम जरूर रक्खा गया था कि कौम के धन से वकील करके कोई अपना बचाव न करे । अदालत ने उन स्वयंसेवकों को निर-पराध बताकर छोड दिया । इससे उनका उत्साह और भी बढा।

इस प्रकार यद्यपि आम तौर से तथा स्वयंसेवकों की ओर से परवाना निकालने की इच्छा रखनेवाले भारतीयों के साथ किसी भी प्रकार का अविवेक या बलात्कार नहीं किया जाता था, तथापि मुझे यह तो जरूर कबूल करना होगा कि इस युद्ध के कारण एक ऐसा भी दल खडा हो गया था जिसका काम यह था कि बिना ही स्वयंसेवक बने, दबे-छुपे रूप से परवाना निकालनेवालों को मारपीट की धमकियां देना या अन्य किसी प्रकार उनका नुकसान करना । यह तो दुःख की बात थी। इसकी खबर लगते ही उसे दबाने के लिए अच्छी तरह प्रयत्न किया गया । इसका परिणाम यह हुआ कि धमकियां लगभग अदृश्य हो गईं । पर उनका बिल्कुल अंत नहीं हुआ । धमकियों का कुछ कुछ असर भी कायम रह गया । और मैंने देखा कि उतने ही परिमाण में युद्ध को हानि भी पहुंची। जिन्हें भय था उन्होंने फौरन सरकारी सहायता मांगी और उन्हें वह मिली भी। इस प्रकार कौम में विष घुसा, और जो कमजोर थे वे और भी अधिक कमजोर बने । इससे विष और भी बढा क्योंकि कमजोरी का स्वाभाविक गुण है बदला लेना । धमकियों का असर उतना नहीं था । पर लोकमत, और स्वयंसेवकों की उपस्थिति के कारण परवाने निकालनेवालों के नाम प्रकट होने का डर इन दो बातों का परिणाम बहुत गहरा हुआ। खूनी कानून

के आगे सिर झुकाना अच्छी बात है ऐसे ख्यालात रखनेवाले एक भी आदमी को मैं नहीं जानता। जो लोग परवाने लेने के लिए गये वे केवल इसलिए गये कि वे कष्ट और आर्थिक नुकसान बरदाश्त नहीं कर सकते थे। इसीलिए उन्हें वहां जाते शर्म मालूम होती थी।

एक तरफ से शर्म और दूसरी ओर से बडे बडे व्यापारवाले भारतीयों को अपने व्यापार की हानि पहुंचने का डर इन दो कठिनाइयों में से बाहर निकलने का रास्ता कितने ही भारतीय अगुओं ने ढूंढ निकाला। एशियाटिक आफिस में जा कर उन्होंने इस बात की व्यवस्था कर दी कि वहांका एक अधिकारी रात के नौ दस बजे के बाद एक मकान पर जाकर उनको परवाने निकाल दे। उनको यह विश्वास था कि इस व्यवस्था के कारण कितने ही समय तक लोगों को यह पता तक नहीं लगेगा कि फलां फलां आदमियों ने खूनी कानून को मान लिया। दूसरे, उन्होंने यह सोचा कि चूंकि वे अगुआ थे इसलिए उन्हें देख देख कर दूसरे भी कानून को मान लेंगे। इससे और कुछ नहीं तो कम से कम लज्जा का भार तो बंट जायगा। बाद अगर पोल खुल गई तो भी चिन्ता की बात नहीं।

पर स्वयंसेवकों का बन्दोबस्त इतना बढिया था कि पल पल की खबर कौम को मिल जाया करती थी। एशियाटिक आफिस में ऐसा तो कोई अवश्य था जो सत्याग्रहियों को ऐसी खबरें फौरन् भेज दिया करे। दूसरे कई ऐसे लोग भी थे जो स्वयं तो कमजोर थे पर यह बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि उनमें से बडे लोग इस कानून के आगे सर झुका दें। वे यह सोच कर सद्भावपूर्वक सत्याग्रहिओं को खबर कर देते कि अगर वे लोग दृढ बने रहे

तो वे भी रह सकेंगे । इस प्रकार एक बार इस दक्षता के कारण कौम को यह खबर फौरन् मिल गई कि फलां रात को फलां फलां दूकान पर अमुक अमुक आदमी परवाने निकालनेवाले हैं। इसलिए ऐसे उद्देश रखनेवाले लोगों को पहले कौम ने ठीक ठीक समझ लेने का यत्न किया । उस दूकान पर पहरा भी लग गया । पर आखिर आदमी अपनी दुर्बलता को कहांतक दबा सकता है ? रात के दस ग्यारह बजे कितने ही मुखियाओं ने परवाने ले लिये । और एकसूर बजती हुई बांसुरी में फूट पड गई । दूसरे ही दिन कौम ने उनके नाम प्रकट कर दिये । पर लज्जा की भी हद होती है । जब स्वार्थ सामने आ खडा होता है तब शरम भागती फिरती है, और मनुष्य गिर पडता है । इस पहली फूट के कारण करीब पांच सौ आदमियों ने परवाने लिये। कितने ही दिन तक तो परवाने निकालने का काम खानगी मकानों में ही किया गया पर जैसे जैसे शरम कम होती गई वैसे वैसे इन पांच सौ में से कितने ही लोग खुले आम ऐशियाटिक आफिस में अपना नाम लिखाने के लिए गये ।

अध्याय १८

पहला सत्याग्रही कैदी

बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी जब एशियाटिक आफिस को ५०० से अधिक नाम नहीं मिल सके तब अधिकारीगण इस निश्चय पर आये कि अब किसीको पकडना चाहिए। पाठक जर्मीस्टन नाम से परिचित हैं। वहांपर बहुत से भारतीय रहते थे। उनमें रामसुंदर नामक एक मनुष्य भी था। यह बडा वाचाल और बहादुर दिखता था। कुछ कुछ श्लोक भी जानता था। उत्तरी भारत का रहनेवाला अर्थात् थोडे-बहुत दोहा चौपाई तो अवश्य ही उसे याद होने चाहिए। और इसपर भी पंडित कहा जाता था इसलिए वहांके लोगों में उसकी बडी प्रतिष्ठा थी। उसने कई जगह भाषण भी दिये थे और उनमें वह काफी जोश ला सकता था। वहांके कितने ही विघ्नसंतोषी भारतीयों ने एशियाटिक आफिस को यह खबर दी कि अगर रामसुंदर पंडित को गिरफ्तार कर लिया जाय तो जर्मीस्टन के बहुत से भारतीय परवाना ले लेंगे। अधिकारीगण इस लालच को कदापि रोक नहीं सकते थे। रामसुंदर पंडित गिरफ्तार हुए। अपने ढंग का यह पहला ही

मामला था। इसलिए सरकार और कौम में बडी चहलपहल मच गई। जिस रामसुंदर पंडित को केवल जर्मीस्टन के लोग ही जानते थे उसे अब क्षणभर में सारे दक्षिण आफ्रिका के लोग जानने लग गये। एक महान् पुरुष का मामला चलते समय जैसे उधर सबकी नजर दोडती है ठीक उसीतरह रामसुंदर पंडित की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ। शांतिरक्षा के लिए किसी प्रकार की तैयारी करने की आवश्यकता नहीं थी। तथापि सरकार ने अपनी ओर से बंदोबस्त रक्खा। अदालत में भी रामसुंदर का वैसा ही आदर सत्कार किया गया जैसा कि कौम के प्रतिनिधि को और एक असामान्य अपराधी को आवश्यक था। अदालत उत्सुक भारतीयों से खचाखच भर गई थी। रामसुंदर को एक महीने की सादी कैद की सजा हुई। उसे जोहान्सबर्ग की जेल में ही रक्खा गया था। उसको यूरोपियन वार्ड में अलग एक कमरा दिया गया था। उसे मिलने में किसीको जरा भी कठिनाई नहीं होती थी। उसका खाना बाहर से भेजा जाता था और कौम उसके लिए नित्य नये अच्छे अच्छे व्यंजन पका कर भेजती थी। वह जिस बात की इच्छा करता वह फौरन ही पूरी कर दी जाती। कौम ने उसका जेल-दिन बडी धूमधाम से मनाया। कोई हताश नहीं हुआ। उत्साह और भी बढ गया। सैंकडों जेल जाने के लिए तैयार थे। एशियाटिक आफिस की आशा सफल न हुई। जर्मिस्टन के भारतीय भी परवाना लेने के लिए नहीं गये। इस सजा का फायदा कौम को ही हुआ। महीना खतम हुआ। राममुंदर छूटे, और उन्हें बडी धूमधाम से गाजेबाजे के साथ जुलुस बनाकर सभास्थान पर ले गये। कई उत्साहभरे भाषण हुए। रामसुंदर को फूलों से ढंक दिया। स्वयंसेवकों ने उनके सत्कार में उन्हें दावत दी।

सैंकडों भारतीय अपने मनमें कहने लगे कि "अरे, हम भी गिरफ्तार हो जाते तो कितना आनंद आता" और रामसुंदर पंडित से मीठा द्वेष करने लगे।

पर रामसुंदर फूटी बादाम साबित हुए। उनका जोश झूठी सती का सा था। एक महीने के पहले तो जेल से निकल ही नहीं सकते थे क्योंकि वे अनायास पकडे गये थे। जेल में उन्होंने इतना ऐशआराम किया कि बाहर से भी अधिक। तथापि स्वच्छंदी और व्यसनी आदमी जेल के एकांतवास को और अनेक प्रकार के खानपान के होते हुए भी वहां जो संयम था उसे कदापि बरदाश्त नहीं कर सकता। यही हाल रामसुंदर पंडित का हुआ। कौम और अधिकारीगणों से मनमानी सेवा लेने पर भी उन्हें जेल कडवी मालूम हुई। और उन्होंने ट्रान्सवाल और युद्ध दोनों को आखिरी सलाम करके अपना रास्ता लिया। हरएक कौम में खिलाडी तो रहते ही हैं। वही हाल युद्धों का भी होता है। लोग रामसुंदर को अच्छी तरह जानते थे। तथापि ऐसे भी आदमी कभी कभी काम देते हैं यह समझ कर उन्होंने रामसुंदर का छिपा हुआ इतिहास उसकी पोल खुलने पर भी कई दिन तक नहीं सुनाया था। पीछे से मुझे मालूम हुआ कि रामसुंदर तो अपनी गिरमिट बिना पूरी किये ही भागा हुआ गिरमिटिया था। उसके गिरमिटिया होने की बात को मैं यहांपर घृणा से नहीं लिख रहा हूं। गिरमिटिया होना कोई ऐब नहीं है। पाठक आखिर में देखेंगे कि युद्ध की सच्ची शोभा बढानेवाले तो गिरमिटिया ही थे। युद्ध की जीत में भी उन्हींका सबसे बडा हिस्सा था। पर गिरमिट से भाग निकलना जरूर एक दोष है।

रामसुंदर का यह इतिहास मैंने उसकी ऐब बताने के हेतु से नहीं बल्कि उसमें जो रहस्य है वह दिखाने के हेतु से लिखा है। हरएक पवित्र आन्दोलन या युद्ध के संचालकों को चाहिए कि वे शुद्ध मनुष्यों को ही उसमें शामिल करें। तथापि आदमी कितना ही सावधान क्यों न हो अशुद्ध मनुष्य को बिलकुल रोक देना असंभव है। तथापि यदि संचालक निडर और सच्चे हों तो अज्ञानतः अशुद्ध आदमियों के घुस आने पर भी युद्ध को आखिर में नुकसान नहीं पहुंच सकता। रामसुन्दर पंडित की पोल खुलते ही उसकी कोई कीमत नहीं रही। वह तो बेचारा अब रामसुन्दर पंडित नहीं कोरा रामसुन्दर ही रह गया। कौम उसे भूल गई पर युद्ध को तो उससे शक्ति ही मिली। युद्ध के लिए मिली हुई जेल जमा की ओर से कम नहीं हुई। उसके जेल जाने से कौम में जो नवीन शक्ति आई वह तो कायम ही रही पर उसके उदाहरण का भी यही असर हुआ कि अन्य कितने ही कमजोर आदमी अपने आप युद्ध से अलग हो गये। और भी कितने ही ऐसे उदाहरण घटित हुए। पर मैं यहांपर उन सबका नाम सहित इतिहास देना नहीं चाहता। क्योंकि उससे कोई फायदा नहीं है। कौम की मजबूती या कमजोरी पाठकों से छिपी नहीं रह सकती। इसलिए यहांपर मैं यह भी कह देना चाहता हूं रामसुन्दर के जैसे केवल वे ही नहीं थे। पर मैंने तो यह देखा कि सभी रामसुन्दरों ने आन्दोलन की सेवा ही की।

पाठक रामसुन्दर को दोष न दें। इस संसार में मनुष्यमात्र अपूर्ण हैं। जब हम किसी मनुष्य में अधिक अपूर्णता देखते हैं तब हम उसके प्रति उंगली दिखाते हैं। पर सच पूछा जाय तो यह भूल है। रामसुन्दर जानबूझ कर दुर्बल नहीं बना था। मनुष्य अपने स्वभाव की स्थिति

को बदल सकता है उसको अपने वश में भी कुछ हद तक कर सकता है पर उसे आमूल कौन दूर कर सकता है। जगत्कर्ता ने उतनी स्वतंन्त्रता नहीं दे रक्खी है। शेर अगर अपने चमडे की विचित्रता को ब ल सकता हो तो मनुष्य भी अपने स्वभाव की विचित्रता को बदल सकता है। हमें यह कैसे मालूम हो सकता है कि भाग निकलने के बाद रामसुन्दर को कितना पश्चाताप हुआ ? अथवा उसका भाग निकलना ही क्या उसके पश्चाताप का मजबूत सबूत नहीं माना जा सकता। अगर वह बेशरम होता तो उसे भागने की क्या पडी थी। परवाना लेकर खूनी कानून के अनुसार वह हमेशा जेलमुक्त रह सकता था। इतना ही नहीं बल्कि वह चाहता तो एशियाटिक आफिस का दलाल बनकर वह दूसरों को चक्कर दे सकता था और सरकार का प्रियपात्र बन सकता था। यह सब न करते हुए अपनी कमजोरी कौम को बताने में वह शरमाया और अपना मुंह छिपा लिया और अपने इस कार्य के द्वारा भी उसने कौम की सेवा ही की। ऐसा उदार अर्थ हम क्यों न करें।

अध्याय १९

'इंडियन ओपीनियन'

सत्याग्रह युद्ध के भीतरी और बाहरी दोनों साधनों को पाठकों के सामने रखना है। इसलिए 'इंडियन ओपीनियन' नामक जो अखबार दक्षिण आफ्रिका में अबतक निकल रहा है उसका परिचय भी पाठकों को करा देना आवश्यक है। दक्षिण आफ्रिका में पहला छापखाना निकालने का यश मदनजीत व्यावहारिक नामक एक गुजराती गृहस्थ को है। कुछ साल तक उन्होंने बड़ी कठिनाई से इस छापखाने को चलाया और बाद यह स्थिर किया कि वहांसे कोई सामयिक निकाला जाय। इसपर उन्होंने स्वर्गीय मनसुखलाल नाजर की और मेरी भी सलाह ली सामयिक डर्बन से निकाला गया। श्री मनसुखलाल नाजर उसके अवैतनिक सम्पादक हुए। पर पत्र में पहले ही से घटी आने लगी। आखिर यह तय हुआ कि उसमें काम करनेवालों को भागीदार अथवा बतौर भागीदार बनाकर एक खेत खरीदा जाय और उन लोगों को वहां बसा वहींसे 'इंडियन ओपेनियन' निकला जाय। यह खेत डर्बन से १३ मील की दूरी पर एक सुंदर टेकड़ी पर है। सबसे नजदीकी स्टेशन 'फिनिक्स' वहां से ३ मील पर है। पत्र का नाम पहले ही से 'इण्डियन ओपीनियन' है। एक समय वह अंगरेजी

गुजराती, तामिल और हिन्दी में प्रकाशित होता था। पर तामिल और हिन्दी हर प्रकार से भारप्रद मालूम होती थी। दूसरे, इन दोनों भाषाओं के ऐसे लेखक नहीं मिलते थे जो खेत पर रह सकें और न उन लेखों पर कोई अंकुश ही रह सकता था। इसलिए दोनों भाषा विभागों को बंद कर के केवल अंगरेजी और गुजराती विभाग ही कायम रक्खा गया। सत्याग्रह के आरम्भ के समय पत्र इसी प्रकार चल रहा था। संस्था में गुजराती, हिन्दुस्तानी, तामिल और अंगरेज सभी थे। मनसुखलाल नाजर की अकाल मृत्यु के बाद एक अंगरेज मित्र हर्बर्ट किचन उसके संपादक हुए। उनके बाद कुछ समय तक स्वर्गीय जोसेफ डोक नामक एक पादरी सज्जन रहे। बाद हेनरी पोल तो बरसों तक उसके संपादक रहे इस अखबार के द्वारा कौम को सप्ताह की सभी खबरें दी जा सकती थीं जो भारतीय गुजराती नहीं जानते थे। उन्हें अंगरेजी विभाग द्वारा आन्दोलन की कुछ कुछ शिक्षा मिल जाया करती थी। और भारत, इंगलैंड तथा दक्षिण आफ्रिका के अंगरेजों के लिए तो इंडियन ओपीनियन एक साप्ताहिक समाचार पत्र का काम देता था। मैं यह मानता हूं कि युद्ध की हस्ती आंतरिक बल पर स्थित है। वह बिना अखबार के भी लडी जा सकती है। पर साथ ही मेरा यह भी अनुभव है कि 'इंडियन ओपीनियन' के कारण जो सुविधायें पैदा हो गईं; कौम को अनायस जो शिक्षा दी जा सकी, दुनिया के तमाम हिस्सों में बसनेवाले भारतियों के पास जो समाचार फैलाये जा सकें वे अन्य किसी प्रकार शायद नहीं किये जा सकते थे। इसलिए यह तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि युद्ध के साधनों में 'इंडियन ओपीनियन' भी एक बडा उपयोगी और प्रबल साधन था।

युद्ध की प्रगति तथा अनुभव-ज्ञान के कारण कौम में जैसे जैसे परिवर्तन होते गये ठीक उसी प्रकार 'इण्डियन ओपीनियन' में भी हुए। इस पत्र में पहले विज्ञापन लिये जाते थे। छापखाने में बाहर का छपाई का काम भी किया जाता था। मैंने देखा कि इन दोनों कामों में अच्छे से अच्छे आदमियों को रुके रहना पडता था। इस बात के लिए हमेशा धर्मसंकट पैदा होते कि यदि विज्ञापन लेना ही ठहरे तो कौन से लिये जावें और कौन से न लिये जावें। फिर यदि यह तय हो कि अमुक विज्ञापन न लिया जाय पर विज्ञापनदाता कौम का कोई अगुआ हो तो इस डर से कि उसका दिल न दुख जाय विज्ञापन जबरदस्ती लेना पडता था। फिर इस विभाग के बन्दोबस्त के लिए एक अच्छे से अच्छे आदमी को अपना समय खराब करना पडता, खुशामदें करना पडतीं, सो अलग ही। दूसरे, यह भी ख्याल हुआ कि पत्र यदि धन के लिए नहीं बल्कि कौम की सेवा के लिए ही चलाया जा रहा है तो वह सेवा जबरदस्ती से नहीं बल्कि उसकी इच्छानुसार ही होनी चाहिए। और कौम की इस इच्छा का सबूत तो यही हो सकता है कि जितनी घटी हो रही है उसे वह अच्छी संख्या में ग्राहक होकर दूर कर दे। तीसरे, यह भी विचार किया कि पत्र का खर्च निकालने के उद्देश से थोडे से व्यापारीयों के सेवा-भाव को जाग्रत करके पत्र में अपना विज्ञापन देने के लिए समझाने की अपेक्षा आम जनता को पत्र के ग्राहक होने के लिए समझाना प्रलोभक और प्रलुब्ध करनेवाले के लिए बडी हितकर शिक्षा होगी। विचार स्थिर होते ही फौरन उसपर अमल करना भी शुरु किया। फल यह हुआ कि जो लोग विज्ञापन के झंझट में पडे हुए थे वेही अब अखबार को अच्छा बनाने के उद्योग में लगे। कौम फौरन्

समझ गई कि 'इण्डियन ओपीनियन' तो उसका पत्र है और उसे चलाने की जिम्मेदारी भी उसीके सिर पर है। हम सब कार्यकर्ता निश्चिन्त हो गये। कौम अगर पत्र मांगे तो अबतो केवल उसके लिए पूरी पूरी मिहनत करने की चिंता ही हमें करनी थी। हर किसी भारतीय का हाथ पकड कर उसे 'इण्डियन ओपीनियन' लेने के लिए कहने में हमारे लिए अब किसी सोच बिचार की जरुरत न रही। इतना ही नहीं, बल्कि अब तो यह करना हम अपना धर्म समझने लग गये। 'इण्डियन ओपीनियन' का आंतरिक बल और स्वरूप भी बदल गया। वह एक महाशक्ति बन गया। उसकी साधारण ग्राहक संख्या १२००-१५०० तक थी। पर वह अब दिन ब दिन बढने लगी। उसका वार्षिक चन्दा बढाना पडा था। तथापि जब लडाई ने उग्र रुप धारण किया उस समय ३५०० तक ग्राहक संख्या बढ गई। उसका पाठक वर्ग २०००० से अधिक न होगा। पर उसमें भी ३००० से अधिक प्रतियों का बिकना आश्चर्यमय प्रचार कहा जा सकता है। कौम ने उस समय इस पत्र को यहां तक अपना लिया था कि यदि जोहान्सबर्ग में वह नियत समय पर न पहुंच पाता तो मुझपर शिकायतों की झडी लग जाती। वह प्रायः रविवार की सुबह को जोहान्सबर्ग पहुंच जाता था। मुझे याद है कि पत्र पहुंचते ही कितने ही लोग अपना काम अलग रखकर पहले उसका गुजराती विभाग पढ जाते। एक मनुष्य पढता और पांच पचीस आदमी उसके आसपास बैठ कर सुनते। हम लोग गरीब ठहरे, इसलिए कितने ही लोग इस पत्र को आपस में चन्दा जोड कर भी मंगाते थे।

छापखाने में बाहर का काम न लेने के विषय में भी मैं लिख चुका हूं। उसे बंद करने के कारण भी प्रायः वे ही थे जो

विज्ञापनों के लिये बताये गये हैं। जाब वर्क (बाहर का छपाई का काम) बंद करने पर कम्पोजिटरों का जो समय बचा उसे हमने पुस्तकें प्रकाशित करने की ओर लगाया। कौम इस बात को जानती थी कि इसमें भी हमारा हेतु धन-संचय कदापि न था। पुस्तकें बतौर युद्ध की सहायता के ही छापी जाती थीं इसलिए उनकी भी अच्छो बिक्री होती थी। इस प्रकार पत्र और छापखाना दोनों ने युद्ध में अपना काम किया। और जैसे जैसे कौम में सत्याग्रह की जड जमती गई ठीक उसी परिमाण में सत्याग्रह की दृष्टि से पत्र और छापखाने में भी प्रगति होती जा रही थी यह स्पष्टतया मालूम हो सकता था।

अध्याय २०

पकड़ा धकड़ी

यह हम देख चुके कि रामसुन्दर की गिरफ्तारी से सरकार को जरा भी फायदा नहीं हुआ। इधर कौम का उत्साह दिन दूना रात चौगुना बढता जा रहा था। अधिकारीगण इसे देखते ही रह गये। एशियाटिक विभाग के अधिकारी तो अवश्य ही इण्डियन ओपीनियन' के लेख ध्यानपूर्वक पढते थे। युद्ध के विषय की एक भी बात छिपाई नहीं जाती थी। कौम की शक्ति, दुर्बलता वगैरा सब कुछ शत्रु, मित्र, और तटस्थ जो कोई भी जानना चाहता था अखबार पर से जान सकता था। अधिकारीगण इस बात को पहले ही से समझ चुके थे कि जिस युद्ध का हेतु दुष्ट नहीं है, जहां छल कपट को स्थान नहीं है और जिस युद्ध की विजय केवल सच्ची आंतरिक शक्ति पर निर्भर है उसमें छिपानेलायक कुछ हो ही नहीं सकता। कौम का स्वार्थ ही इस बात की शिक्षा देता है कि यदि दुर्बलतारूपी रोग को दूर करना है तब तो वह जहां कहीं हो उसकी परीक्षा कर उसे प्रकाश में लाना चाहिए। जब उन्होंने देखा पत्र उसी उद्देश्य से चल रहा है तब तो वह

उनके लिए भारतियों के वर्तमान इतिहास के आइने का काम देने लग गया। और उसीपर से उन्होंने यह तय किया कि जबतक वे कुछ खास खास अगुओं को गिरफ्तार नहीं कर लेते तबतक युद्ध का बल तोडा नहीं जा सकता। इसलिए १९०७ के दिसम्बर में कितने ही अगुओं को अदालत में हाजिर होने के नोटिस मिले। यह मुझे कुबूल करना चाहिए कि अधिकारियों ने अपने इस व्यवहार से अपनी सभ्यता का ही परिचय दिया था। अगर वे चाहते तो अगुआओं को वारंट से भी गिरफ्तार कर सकते थे। इसके बजाय केवल नोटिस भेजकर उन्होंने अपनी सभ्यता के साथ साथ इस बातका भी विश्वास प्रकट किया कि अगुआ लोग अपनेको स्वेच्छापूर्वक सौंप देंगे। नियत समय पर नोटिस मिले और वे लोग अदालत में उपस्थित हुए।

इनमें 'क्वीन' नामक एक व्यक्ति जोहान्सबर्ग में रहनेवाले चीनी लोगों के अगुआ भी थे। जोहान्सबर्ग में उनकी संख्या कोई ३००-४०० होगी। वे सभी व्यापार या छोटी मोटी खेती का काम करते थे। भारत कृषिप्रधान देश है। पर मेरा यह विश्वास है कि चीनी लोगों ने खेती को जितना बढाया है उतना हम लोगों ने नहीं। अमेरिका वगैरा देशों में खेती की जो प्रगति हुई है वह आधुनिक है और उसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता। उसी प्रकार पश्चिमी खेती को मैं अभी प्रयोगावस्था में मानता हूं। पर चीन तो हमारे ही जैसा प्राचीन देश है। और वहां प्रचीन काल से ही खेती में तरक्की की गई है। इसलिए चीन और भारत की तुलना करें तो हमें उससे कुछ शिक्षा मिल सकती है। जोहान्सबर्ग के चीनियों की खेती देखकर और उनकी बातें सुनकर तो मुझे यही मालूम हुआ कि चीनियों का ज्ञान और उद्योग भी हम लोगों से बहुत बढकर है

जिस जमीन को हम ऊसर समझ कर छोड देते हैं उसीमें वे अपने खेती के सूक्ष्म ज्ञान के कारण कुछ बो कर अच्छी फसल पैदा कर सकते हैं। यह उद्यमशील और चतुर कौम भी उस खूनी कानून की कक्षा में आती थी। इसलिए उसने भी भारतीयों के साथ साथ युद्ध में शामिल होना उचित समझा। तथापि शुरू से आखिर तक दोनों कौमों का हर एक व्यवहार अलग अलग होता था। दोनों अपनी अपनी संस्थाओं के द्वारा झगड रही थीं। इसका शुभ फल यह होता है कि जबतक दोनों जातियां अपने निश्चय पर दृढ रहती हैं तबतक तो दोनों को फायदा होता है। पर आगे चलकर यदि एक फिसल भी जाय तो इससे दूसरी जाति को कोई हानि की संभावना नहीं रहती। वह गिरती तो हरगिज नहीं। आखिर बहुत से चीनी तो फिसल गये, क्योंकि उनके नेता ने उन्हें धोखा दिया। नेता कानून के वश तो नहीं हुए पर एक दिन किसीने आकर मुझसे कहा कि वे बिना हिसाब-किताब समझाये सौंपे ही कहीं भाग गए। नेता के चले जाने के बाद अनुयायियों का दृढ रहना तो हमेशा मुश्किल ही पाय गया है। फिर नेता में किसी मलिनता के पाये जाने पर तो निराशा दूनी बढ जाती है। पर जिस समय पकडा धकडी शुरू हुई उस समय तो चीनी लोगों में बडा जोश फैला हुआ था। उनमें से शायद ही किसीने परवाने लिये हों। इसीलिए भारतीय नेताओं के साथ चीनियों के कर्ता हर्ता मि० क्वीन को भी पकडा गया। इसमें शक नहीं कि कुछ समय तक तो उन्होंने बहुत अच्छी तरह काम किया था।

गिरफ्तार किये गये जिन अन्य नेता का मैं यहां परिचय देना चाहता हूं वे हैं थंबी नायडू। थंबी नायडू तामिल सज्जन थे। उनका जन्म मारिशियस में हुआ था। उनके मातापिता इलाके

मंदरास से वहां आजीविका के लिए गये हुए थे। थंबी नायडू एक सामान्य व्यापारी थे। उन्होंने कोई भी शिक्षा पाठशाला में नहीं पाई। पर उनका अनुभवज्ञान बडे ऊंचे दर्जे का था। अंगरेजी अच्छी तरह बोल और लिख भी सकते थे, हालां कि भाषाशास्त्री की दृष्टि से उसमें वे अवश्य गलतियां करते थे। तामिल भाषा का ज्ञान भी अनुभव से ही प्राप्त किया था। हिन्दुस्तानी अच्छी तरह समझ लेते और बोल भी सकते थे। तेलगू का भी कुछ ज्ञान रखते थे। पर हिन्दी और तेलगू की लिपियों का ज्ञान उन्हें जरा भी न था। मारीशियस की भाषा भी,-जिसका नाम क्रीओल है और जो अपभ्रष्ट फ्रेंच कही जा सकती है उन्हें बहुत अच्छी तरह अवगत थी। इतनी भाषाओं का ज्ञान दक्षिण आफ्रिका में कोई आश्चर्यजनक बात न थी। दक्षिण आफ्रिका में आपको एसे सैंकडो भारतीय मिलेंगे जिन्हें इन सभी भाषाओं का सामान्य ज्ञान है। और इन सबके अतिरिक्त हबसियों की भाषा का ज्ञान तो उन्हे अवश्य ही होता है। इन सभी भाषाओं का ज्ञान वे अनायास प्राप्त करते हैं और कर भी सकते हैं। इसका कारण मैंने यह देखा कि विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा प्राप्त करते करते उनके दिमाग थके हुए नहीं होते। उनकी स्मरण-शक्ति तीव्र होती है। उन भिन्न भिन्न भाषा-भाषी लोगों के साथ बोल बोल कर और अवलोकन करके ही वे उन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इससे उनके दिमाग को जरा भी कष्ट नहीं होता, बल्कि इस रोचक व्यायाम के कारण उनकी बुद्धि का स्वाभाविक विकास ही होता है। यही हाल थंबी नायडू का हुआ। उनकी बुद्धि भी बडी तीव्र थी। नवीन प्रश्नों को वे बडी फुर्ती के साथ समझ लेते। उनकी हाजर जवाबी आश्चर्यजनक थी। भारत कभी नहीं आये थे

पर फिर भी उनका उसपर अगाध प्रेम था। स्वदेशाभिमान उनकी नस नस में भरा हुआ था। उनकी दृढता चेहरे पर ही चित्रित थी। उनका शरीर बडा मजबूत और कमाया हुआ था। मिहनत से कभी थकते ही न थे। कुरसी पर बैठ कर नेतापन करना हो तो उस पद की भी शोभा बढा दें। पर साथ ही हलकारे का काम भी उतनी ही स्वाभाविक रीति से वे कर सकते थे। सरे आम सिर पर बोझा उठाकर जाने में थंबी नायडू जरा भी न शरमाते थे। मिहनत के समय न रात देखे न दिन। कौम के लिए अपने सर्वस्व की आहूति देने के लिए हरकिसी के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकते थे। अगर थंबी नायडू हद से ज्यादह साहसी न होते और उनमें क्रोध न होता तो आज वह वीर पुरुष ट्रान्सवाल में काछलिया की अनुपस्थिति में आसानी से कौम का नेतृत्व ग्रहण कर सकता था। ट्रान्सवाल के युद्ध के अंत तक उनके क्रोध का कोई विपरीत परिणाम नहीं हुआ था बल्कि तबतक उनके अमूल्य गुण जवाहिरों के मुआफिक चमक रहे थे। पर बाद मैंने देखा कि उनका क्रोध और साहस प्रबल शत्रु साबित हुए, और उनके गुणों को छिपा दिया। पर कुछ भी हो, दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह युद्ध में थंबी नायडू का नाम हमेशा पहले ही वर्ग में रहेगा।

हम सबको अदालत में एक साथ ही हाजिर होना था। पर सबके मामले अलग अलग चलाये गये थे। हमें किसीको अपना बचाव तो करना ही न था। सबको अपना अपना अपराध कुबूल करना था। मैंने अदालत में अपना कोई लेखी बयान भी पेश नहीं किया था। मैंने केवल इसी भावार्थ के कुछ शब्द कहे कि विचारपूर्वक और अपना धर्म समझकर ही मैं इस खूनी

कानून का सामना कर रहा हूं। इसके लिए मुझे जो सजा मिलेगी उसे सहना मैं अपना सम्मान समझूंगा। २ महिने की सादी कैद की सजा मुझे मिली। जिस अदालत में मैं सैकडो बार वकील की हैसियत से खडा रहता था, वकीलों के साथ बैठता था, वहींपर आज मैं आरोपी के पींजरे में खडा हूं यह विचार जरूर कुछ विचित्र मालूम हुआ पर यह तो मुझे अच्छी तरह याद है कि वकीलों के साथ बैटने में मैं अपना जो सम्मान समझता था उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सम्मान आज मैंने उस पींजडे में खडा रहने ही में माना। मुझे याद नहीं आता कि उसमें पैर रखते हुए मेरे दिल में जरा भी क्षोभ हुआ हो। अदालत में तो सैकडों हिन्दुस्तानी भाई वकील मित्र वगैरह के सामने मैं खडा था। सजा के सुनाते ही फौरन् कैदियों को जिस दरवाजे से बाहर ले जाते हैं, उससे ले जाने के पहले जहां उन्हें रक्खा जाता है वहां एक सिपाही मुझे ले गया।

उस समय मैंने देखा कि आसपास सन्नाटा सा छा गया है। कैदियों के बैठने के लिए वहां एक बेंच पडी थी उसपर बैठने के लिए मुझे कह कर पुलिस अधिकारी दरवाजा बन्द करके चला गया। यहां मेरे दिल में जरूर क्षोभ पैदा हुआ। मैं गहरे विचार सागर में गोते लगाने लगा। घरबार कहां है? वकालत कहां? कहां वे सभायें? क्या यह सब स्वप्न था और आज मैं कैदी हो गया हूं? इन दो महिने में क्या होगा? क्या पूरे दो महिने काटना होंगे? यदि लोग बराबर एक के बाद आते रहें तब तो दो महीने यहां रहना ही न पडे! पर यदि न आवें तो ये दो महीने कैसे कटेंगे? यह लिखते हुए मुझे जितना समय लग रहा है उसके शतांश से भी कम समय में ये और ऐसे कितने ही विचार

मेरे दिल में आ गये। पर उनके आते ही मैं शरमाया। 'अरे, यह कैसा मिथ्याभिमान! मैं तो जेल को महल बता रहा था! खूनी कानून का सामना करते हुए जो जो कुछ मुसीबतें आवें उन्हें दुःख नहीं, सुख समझना चाहिए, उसका सामना करते हुए जानोमाल को अर्पण कर देना यह तो सत्याग्रह का विलास है, आदि सब ज्ञान कहां चला गया?' बस, यह विचार आते ही मैं फिर होश में आया और अपनी मूर्खता पर आप ही हंसने लगा। अब, 'दूसरे भाइयों को कैसी कैद दी जायगी, उन्हें मेरे साथ ही रक्खेंगे या अलग' आदि व्यावहारिक विचारों में मैं पडा। इस प्रकार गोते लगा ही रहा था कि दरवाजा खुला। पुलिस अधिकारी ने मुझे उसके पीछे आने के लिए फरमाया। मैं रवाना हुआ कि मुझे आगे करके वह पीछे हो गया और जेल की पींजडा गाडी के पास मुझे ले गया और उसमें बैठने के किए कहा। मेरे बैठते ही जोहान्सबर्ग की जेल के तरफ गाडी बढी।

जेल में आने पर मेरे कपडे निकलवाये। मैं जानता था कि जेल में कैदियों को नग्न किया जाता है। सबने यह निश्चय कर लिया था कि जहांतक जेल की धारायें व्यक्तिगत अपमान करनेवाली अथवा धर्म के खिलाफ न हों तहांतक उनका स्वेच्छापूर्वक पालन किया जाय। हमने यह सत्याग्रही का धर्म समझा था। पहनने के लिए जो कपडे मिले वे बहुत मैले थे। उन्हें पहनते हुए तो जरा भी अच्छा न लगा। उनको पहनने में और मन को रोकने में बडा ही दुःख हुआ। पर यह सोचकर कि अभी तो और भी कितनी ही अस्वच्छता को बरदाश्त करना होगा, चित्त को थामा। नामठाम लिखकर मुझे एक विशाल कमरे में ले गये। कुछ देर तक वहां रक्खा होगा कि इतने ही में मेरे साथी भी हंसते बोलते आ पहुंचे

और मेरे बाद उनका मुकदमा कैसे चला आदि सब हाल उन्होंने कह सुनाया। मेरा मुकदमा खतम होनेपर लोगों ने काले झंडे हाथों में ले ले कर एक जुलूस निकाला। कोई कोई उत्तेजित भी हो गये थे। पुलिस बीच में गिरी। दोचार को मार भी पडी, आदि हाल सुने और हम सबको एक ही जेल और एक ही कमरे में रक्खा इसलिए हम सब बडे प्रसन्न हुए।

छः बजे कि हमारे कमरे का दरवाजा बंद कर दिया गया। वहांके जेल की खोलियों के दरवाजों में लोहे के बार नहीं होते। ठेठ ऊपर दीवाल में एक उजालदान हवा के लिए रक्खा जाता है। इसलिए हमें तो यही मालूम हुआ कि हम तो मानों तिजोरी में बंद हैं। पाठक पढेंगे कि अधिकारियों ने जो आदरातिथ्य रामसुंदर का किया था वह हमारा नहीं किया। पर इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। रामसुंदर पहला सत्याग्रही कैदी था। इसलिए अधिकारियों को इस बात का होश तक न था कि उसके साथ किस प्रकार का बर्ताव किया जाय। हमारी संख्या तो पहले ही से काफी थी। और सरकार दूसरों को भी पकडना चाहती थी। इसलिए हमें हबसी जेलखाने में रक्खा गया। दक्षिण आफ्रिका में दो विभाग ही होते हैं, गोरा और काला (हबसी)। भारतीय कैदी की गिनती भी हबसियों के विभाग में ही की जाती है। मेरे साथियों को भी मेरे ही इतनी और सादी कैद की सजा हुई थी। दिन निकलते ही हमें यह मालूम हुआ कि सादी कैदवालों को अपनी ही पोशाक पहनने का हक रहता है। और अगर वह उसे न पहनना चाहे तो सादी कैदवालों के लिए जो खास पोशाक रहती है वह उन्हें दी जाती है। हम सबने यही निश्चय किया कि घरकी अपनी पोशाक यहां पहनना तो ठीक

नहीं। अतः जेल की ही पोशाक पहननी चाहिए। अधिकारियों को हमने इस बात की सूचना भी कर दी। इसलिए हमें सादी कैदवाले कैदियों की पोशाक दी गई? पर इस प्रकार के सादी कैदवाले कैदी दक्षिण आफ्रिका में सैंकडो की संख्या में होते ही नहीं। इसलिए ज्यों ही सादी कैदवाले अधिक कैदी आने लगे त्यों ही जेल के कपडे खतम हो गये। हमें इस विषय में कोई शिकायत तो करना ही नहीं थी, इसलिए सख्त कैदवाले कैदियों के कपडे पहनने में भी हमने कोई उजर नहीं किया। पिछेसे आये हुए कितने ही भाइयों ने इन कपडों की अपेक्षा अपने ही कपडे पहने रहना पसंद किया। मुझे यह अच्छा नहीं मालूम हुआ। पर इस विषय में आग्रह करना भी अनुचित समझा।

दूसरे या तीसरे ही दिन से सत्याग्रही कैदियों के झुंड आने लगे। वे तो जानबूझ कर गिरफ्तार होते थे। उनमें से अधिकांश तो फेरीवाले थे। दक्षिण आफ्रिका में हरएक फेरी करनेवाले को फिर वह गोरा हो या काला फेरी का परवाना लेना पडता है, जो उसे हमेशा अपने पास रखना होता है और जब पुलिस मांगे तब उसे बता देना पडता है। अक्सर कोई न कोई पुलिस का आदमी तो परवाना मांग ही बैठता था। और अगर नहीं मिला कि किया उस आदमी को गिरफ्तार। हमारी गिरफ्तारी के बाद कौम ने जेल को भर देने का निश्चय कर दिया था। फेरीवाले इस काम में आगे बढे। और उनके लिए गिरफ्तार होना भी आसान था। फेरी का परवाना नहीं बताया कि हुए गिरफ्तार। इसप्रकार गिरफ्तारियां होते होते एक सप्ताह के अंदर कोई १०० सत्याग्रही कैदी हो गये। और भी आ रहे थे। इसलिए हमें तो बिना ही अखबार के मानों अखबार मिल जाया करते थे। ये भाई नित्य

नई खबरें लाते। जब बहुत से सत्याग्रही गिरफ्तार होने लगे तब या तो न्यायाधीश थक गया या जैसा कि हमने सोचा था सरकार की ओर से न्यायाधीश को सूचना मिली होगी कि आयंदा सत्याग्रहियों को सादी नहीं, सख्त कैद की सजा ही दी जाय। जो हो पर अब सत्याग्रहीयों को सख्त कैद की सजा मिलने लगी। आज भी मुझे यही मालूम होता है कि कौम का अनुमान ही सच्चा था। क्योंकि पहले पहल जिन मामलों में सादी कैद की सजा दी गई थी उसके बाद न तो उस युद्ध में और न जब कभी आगे युद्ध छिडा तब स्त्रियों को अथवा पुरुषों को ट्रान्सवाल या नाताल की एक भी अदालत में सादी कैद की सजा मिली। अगर सबको एक ही प्रकार का हुक्म न हो तो हरएक मैजिस्ट्रेट का हरवक्त प्रत्येक पुरुष और स्त्री को सख्त मजदूरी की ही सजा देना अगर केवल संयोग ही हो तो सचमुच यह एक बडा भारी चमत्कार है।

इस जेल में सादी कैद के कैदियों को सुबह मक्का की कांजी मिलती थी। कांजी में कभी नमक नहीं रहता था पर वह हरएक कैदी को ऊपर से दे दिया जाता था। दुपहर को बारह बजे पावभर भात, उसपर थोडा नमक और आधी छटांक घी तथा पाव भर डबल-रोटी मिलती थी। शाम को मक्का के आटे की राब, और थोडी आलू की तरकारी मिलती। आलू अगर छोटे होते तो दो और बडे होते तो एक मिलता था। इससे किसीका पेट नही भरता था। चावल चीकने पकाये जाते। वहांके डाक्टर से कुछ मसाला मांगा गया और यह भी सूचित किया कि मसाला भारत की जेलों में भी दिया जाता है। डाक्टर ने कडक कर उत्तर दिया "यह हिन्दुस्तान नहीं है। कैदी को न तो स्वाद होता है और न

मसाला मिल सकता है।" जब दाल मांगी गई, क्योंकि वर्तमान खुराक में स्नायुओं का पोषक खुराक एक भी नहीं था — तब आपने उत्तर दिया "कैदियों को डाक्टरी दलीलें नहीं करनी चाहिए। तुम लोगों को स्नायुपोषक खुराक भी दिया जाता है क्योंकि सप्ताह में दो बार मक्का के बदले शाम को पकाये हुए वाल (एक प्रकार का द्विदल अनाज) दिये जाते हैं। सप्ताह अथवा पक्ष में भिन्न भिन्न गुणवाले खुराक भिन्न भिन्न समय पर एक साथ लेकर यदि मनुष्य का जठर उसके सत्व को आकर्षित कर सकता हो तब तो डाक्टर की दलील बराबर थी। बात यह थी कि डाक्टर किसी प्रकार हमारे अनुकूल होना ही नहीं चाहता था। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने हमारी इस बात को मंजूर किया कि हम अपना खाना खुद ही पका लिया करें। थम्बी नायडू को हमने अपना पाकशास्त्री चुना। चौके में उन्हें कितने ही झगडे करना पडते थे। तरकारी अगर कम मिलती तो पूरी मांगी जाती। वही हाल अन्य वस्तुओं का भी था। पर हमारे जिम्मे केवल दुपहर का खाना पकाना किया गया था। यह स्वतंत्रता मिलने पर खुराक कुछ कुछ सन्तोषजनक मिलने लगा।

पर ये सुविधायें मिलें या न भी मिलें पर हमने तो यही निश्चय किया था कि यह जेल की सजा को सुखपूर्वक ही व्यतित किया जाय। बात बढते बढते सत्याग्रही कैदियों की संख्या १५० से भी ऊपर चली गई। हम सादी कैदवाले थे इसलिए हमें अपनी खोली वगैरा साफ रखने के अतिरिक्त कोई काम न था। इसलिए हमने काम मांगा। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कहा अगर मैं आपको काम बताऊं तो वह एक अपराध समझा जायगा इसलिए मैं लाचार हूं। स्वच्छता रखने में ही आप मनमाना समय लगा सकते हो।

फिर ड्रिल वगैरा कसरत करने की इजाजत मांगी क्योंकि हम देखते थे कि सख्त कैदवाले हबसी कैदियों को भी ड्रिल दी जाती थी। इसपर यह उत्तर मिला कि यदि आपके वार्डर को समय मिले और वह कसरत कराना मंजूर करे तो मैं उसका विरोध नहीं करूंगा पर मैं उसे बाध्य भी नहीं करूंगा। उसे बहुत काम रहता है। और आपकी अकल्पित संख्या से वह और भी बढ गया है। वार्डर बडा भला आदमी था। उसे तो केवल इसी इजाजत की आवश्यकता थी। उसने बडे उत्साह के साथ हमें रोज सुबह ड्रिल सिखाना शुरू किया। यह सब हमारी खोली के सामनेवाले आंगन में ही हो सकता था अर्थात् हमें गोल चक्कर ही लगाने पडते थे। कभी कभी इस वार्डर की शिक्षानुसार एक पठान भाई नवाबखान उसकी अनुपस्थिति में ड्रिल शुरू रखते और अंगरेजी शब्दों के अपने उर्दू उच्चारों से हमें खूब हंसाते। 'स्टँड ऍट ईझ' को वे 'डंटलीझ' कहते। कुछ रोज तक यही हमारी समझ में नहीं आया कि यह कौन-सा हिन्दुस्तानी शब्द है। बाद अंदाज से समझा कि अरे यह तो नवाबखानी अंगरेजी है।

अध्याय २१

पहला समझौता

इस प्रकार १५ दिन बीते होंगे कि नवीन आनेवाले लोग खबर लाने लगे कि सरकार के साथ सुलह करने की कोई बातचीत चल रही है। दो तीन दिन बाद जोहान्सबर्ग के 'ट्रान्सवाल लीडर' नामक दैनिक के सम्पादक अलबर्ट कार्टराइट मुझे मिलने के लिए आये। उस समय जोहान्सबर्ग में जितने दैनिक थे उन सबकी मालिकी सोने की कानवाले किसी न किसी गोरे के हाथों में थी। अतः उनके खास स्वार्थ को छोड कर सम्पादक लोग अन्य सब प्रश्नों पर अपने स्वतन्त्र विचार जाहिर कर सकते थे। इन पत्रों के सम्पादक हमेशा विद्वान और ख्यातनामा पुरुष ही चुने जाते थे। 'स्टार' नामक एक दैनिक के सम्पादक एक समय लार्ड मिलनर के खास मंत्री थे। वे 'स्टार' को छोड कर 'टाइम्स' के सम्पादक मि. बकल का स्थान लेने के लिए विलायत गये थे। अलबर्ट कार्टराइट बडे चतुर और अतिशय उदार हृदय के सज्जन थे। वे अपने अग्रलेखों तक में अक्सर भारतीयों का ही पक्ष लिया करते। मेरे और उनके बीच गहरा स्नेह-सम्बन्ध हो गया था। और मेरे जेल जाने के बाद वे जनरल स्मट्स को भी

मिले थे । जनरल स्मट्स ने उन्हे सुलहकर्ता कुबूल किया । मि. कार्टराइट फिर कौम के अगुओं से भी मिले । पर उन्होंने यही उत्तर दिया कि हम लोग कानून की बारीकियों को नहीं जानते । गांधी जेल में हैं इसलिए इस विषय में कोई सलाह-मशवरा करना हम अयोग्य समझते हैं । हम सुलह तो चाहते हैं पर यदि हमारे आदमियों को जेल में रख कर ही सरकार सुलह करना चाहती हो तो आपको गांधी से मिलना चाहिए । वह जो कहेगा हम सब मंजूर करेंगे । इसपर से अलबर्ट कार्टराइट मुझे मिलने के लिए आये । साथ ही जनरल स्मट्स का बनाया — या पसंद किया हुआ समझौते का मसविदा भी लाये थे । उसकी भाषा गोलमाल थी । वह मुझे पसंद नहीं आई । तथापि एक जगह कुछ दुरूस्ती करने पर मैं उसपर अपने दस्तखत करने के लिए तैयार हो गया। पर मैंने कहा कि बाहरवालों की इजाजत मिलने पर भी मेरे जेल के साथियों की इजाजत बिना ही प्राप्त किये, मैं कदापि दस्तखत नहीं कर सकता । समझौते का सार इस प्रकार था। "भारतीय स्वेच्छापूर्वक अपने परवाने बदलवा लें । उनपर कानून का कोई अधिकार न होगा । नवीन परवाना भारतीयों की सलाह से सरकार बनावे । और यदि इसे भारतीय स्वेच्छापूर्वक ले लें तब तो खूनी कानून रद कर दिया जायगा, और स्वेच्छापूर्वक लिए गये नवीन परवानों को कानूनन् बनाने के लिए वह एक नया कानून बनावेगी ।" खूनी कानून को रद करने की बात इस मसविदे में स्पष्ट नहीं लिखी गई थी । इसे स्पष्ट करने के लिए मैंने अपनी दृष्टि के अनुसार एक दुरूस्ती की सूचना की । पर अलबर्ट कार्टराइट को वह भी पसंद नही आई । उन्होंने कहा कि जनरल स्मट्स का यह आखिरी मसविदा है । स्वयं मैंने भी

इसे पसंद किया है। और यह तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि अगर आप सब परवाने ले लें तब तो यह खुनी कानून रद हुआ ही समझिए। मैंने कहा समझौता हो या न हो लेकिन आपकी इसी सहानुभूति और इस समझौते की खटपट के लिए हम आपके सदा के लिए अनुगृहित रहेंगे। मैं एक भी अनावश्यक परिवर्तन करना नहीं चाहता। जिस भाषा से सरकार की प्रतिष्ठा की रक्षा होती हो उसका मैं ख्वामख्वाह विरोध नहीं करूंगा। पर जहां अर्थ के विषय में मैं स्वयं शंकितचित्त हूं वहां तो मुझे अवश्य ही परिवर्तन की सूचना करना चाहिए। और आखिर यदि समझौता करना ही है तो दोनों पक्षों को कुछ परिवर्तन करने का अधिकार तो जरूर ही होना चाहिए। जनरल स्मट्स को यह कह कर, कि यह मेरा आखिरी मसविदा है, हमारे सामने पिस्तौल नहीं दिखाना चाहिए। खूनी कानून रूपी एक पिस्तौल तो पहले ही से हमारे सामने धरा हुआ है। अब इस दूसरे पिस्तौल का असर हमपर क्या अधिक हो सकता है? मि. कार्टराइट इसके उत्तर में कुछ न कह सके। उन्होंने यह कुबूल किया कि मैं आपका बताया यह परिवर्तन जनरल स्मट्स के सामने रख दूंगा। मैंने अपने साथियों से भी मशवरा किया। भाषा तो उन्हें भी पसंद नहीं आई। पर यदि उतने परिवर्तन के साथ जनरल स्मट्स समझौता करते हों तो हम भी उसे मंजूर कर लें यह बात उन्हें पसंद थी। बाहर से जो लोग आये थे वे भी अगुआओं का यह संदेश लाये कि यदि योग्य समझौता हो रहा हो तो कर लेना चाहिए। हमारी सम्मति की राह न देखी जाय। इस मसविदे पर मैंने मि. क्वीन, और थम्बी नायडू के भी दस्तखत लिए और तीनों दस्तखत-वाला मसविदा कार्टराइट को सौंप दिया।

दूसरे या तीसरे दिन जोहान्सबर्ग का पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट आया और मुझे जनरल स्मट्स के पास ले गया। उनकी मेरी बहुत सी बातें हुई। उन्होंने मुझे यह भी कहा कि मि. कार्टराइट के साथ मैंने सलाह की थी। मेरे जेल जानेपर भी कौम दृढ रही इसके लिए मुझे उन्होंने मुबारकबादी दी और कहाः—"आप लोगों के विषय में मेरा कोई व्यक्तिगत दुर्भाव नहीं है। आप जानते ही हैं कि मैं एक बैरीस्टर हूं। मेरे साथ कितने ही भारतीय पढ़े भी हैं। मुझे तो यहां केवल अपना कर्तव्य करना है। गोरे लोग इस कानून को चाहते हैं। आप यह भी कुबूल करेंगे उनमें भी अधिकांश बोअर नहीं, अंगरेज ही हैं। आपने जो दुरूस्ती की उसे मैं मंजूर करता हूं। जनरल बोथा के साथ भी मैं बातचीत कर चूका हूं और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यदि आपमें से अधिकांश लोग परवाने ले लेंगे तो मैं एशियाटिक एक्ट को रद कर दूंगा। स्वेच्छापूर्वक लिये जानेवाले परवाने को मंजूर करने के कानून का मसविदा तैयार करने पर उसकी एक नकल आपके पास टीका के लिये भेजूंगा। मैं नहीं चाहता कि यह आन्दोलन फिर से जागे। आपके भावों का मैं सन्मान करता हूं।" इसप्रकार बातचीत होने पर जनरल स्मट्स उठे। मैंने कहा, "अब मुझे कहां जाना चाहिए। और मेरे साथवाले अन्य कैदियों का क्या होगा?" उहोंने हंस कर कहा आप तो इसी क्षण से स्वतंत्र हैं। साथियों को कल सुबह छोडने के लिए टेलीफोन करता हूं। पर आपसे मेरी एक सलाह है कि आप लोग अधिक जुलूस तमाशे न करें। अगर करेंगे तो सरकार की स्थिति जरा विचित्र हो जायगी। मैंने कहाः—"आप विश्वास रखिए। जुलूस के लिए तो एक भी जूलूस न होने दूंगा पर समझौता किस प्रकार हुआ, वह

क्या है, और अब भारतीयों के सिर पर कितनी भारी जबाबदेही आ गिरी है आदि समझाने के लिए मुझे सभायें तो अवश्य ही भरना होंगी।" जनरल स्मट्स ने कहा, "हां, ऐसी सभायें तो जितनी चाहें उतनी करें। मेरी बात आप समझ गये यही काफी है।"

इस समय शाम के सात बजे होंगे। मेरे पास तो एक पाई तक न थी। जनरल स्मट्स के मंत्री ने जोहान्सबर्ग तक जाने का किराया दिया। यह मशवरा प्रिटोरिया में हुआ था। प्रिटोरिया के भारतीयों के पास ठहर कर वहां समझौता प्रकट करना कोई आवश्यक नहीं था। मुख्य आदमी जोहान्सबर्ग में ही थे। केन्द्र भी जोहान्सबर्ग था। जोहान्सबर्ग जानेवाली आखिरी रेल ही बाकी थी। वही ट्रेन मुझे मिल गई।

अध्याय २२

समझौते का विरोध—मुझपर हमला

रात के नौ बजे मैं जोहान्सबर्ग पहुंचा। मैं सीधा अध्यक्ष ईसपमियां के यहां चला गया। वे जान गये थे कि मुझे प्रिटोरिया ले गये हैं। इसलिए शायद मेरा इंतजार भी कर रहे होंगे तथापि मुझे अकेला आया हुआ देख सभी को आश्चर्य और आनंद हुआ। मैंने सूचना की कि जितने आदमी इकट्ठे हो सके उतने सबको इकट्ठा करके इसी समय सभा होनी चाहिए। ईसपमियां वगैरा मित्रों को भी यह सूचना रुची। बहुत से भारतीय एक ही मुहल्ले में रहते थे इसलिए उनको खबर करना कोई कठिन काम नहीं था। अध्यक्ष का मकान मसजिद के नजदीक ही था। और सभायें मसजिद के आंगन में ही होती थीं। इसलिए कोई भारी व्यवस्था भी करना नहीं थी। मंच के उपर सिर्फ एक बत्ती की कसर थी। रातके ११-१२ बजे सभा भरी। समय बहुत् कम मिला था। पर फिर भी लगभग १००० आदमी इकट्ठ हो गये थे।

सभा भरने के पहले जितने अगुआ लोग वहां हाजर थे उनको मैं समझौते की शर्तें समझा चुका था। कोई कोई उसका विरोध भी करते थे। पर इस मंडल के सभी सज्जन मेरी दलीलें सुन लेने पर समझौते का यथार्थ स्वरूप समझ गये थे। पर एक शक तो सबके दिल में एकसा था। "अगर जनरल स्मट्स विश्वासघात करे तो? भले ही खूनी कानून पर अमल न किया जाय। पर उसका भूत तो हमपर हमेशा सवार रहेगा न? यदि हम स्वेच्छापूर्वक परवाने लेकर अपने हाथ काट डालें तब तो उसके प्रतिकार के लिए हमारे पास जो एक मात्र महान् शस्त्र है उसे भी अपने हाथों से गंवा देंगे। यह जान बूझ कर दुश्मन की जाल में अपने को फांस लेना है। सच्चा समझौता तो तभी कहा जा सकता है जब पहले खूनी कानून रद हो, और उसके बाद हम लोग स्वेच्छा-पूर्वक परवाने निकालें। इस दलील से मैं बडा खुश हुआ। दलील करनेवालों की तीक्ष्ण बुद्धि और उनकी हिम्मत देखकर मुझे बडा अभिमान हुआ। और मैंने दिल में कहा कि सत्याग्रही ऐसे ही होने चाहिए। इसके उत्तर में मैंने कहाः— "आपकी दलील बढिया है। विचारणीय है। खूनी कानून रद होने पर ही हम स्वेच्छापूर्वक परवाने लेंगे। इससे बढिया और क्या हो सकता है? पर मैं इसे समझौते का लक्षण नहीं कहता। समझौते का तो अर्थ ही यह है कि जहां सिद्धान्त को बाधा न पहुंचती हो तहां दोनों पक्ष दे ले कर झगडा निपटा ले। हमारा सिद्धान्त यह है कि खूनी कानून के डर से तो हम वह कार्य भी न करें जिसे साधारण हालत में करने के लिए हमें कोई उज्र न हो। बस इस सिद्धान्त का अवलंबन हमें करना है। सरकार का सिद्धान्त यह है कि झूठे बहाने से भारतीय ट्रान्सवाल में प्रवेश न पा

सकें इसलिए ट्रान्सवाल के अधिकांश भारतीय निशानियां दर्ज किये हुए तथा अदल बदल न हो सके ऐसे परवाने ले लें। गोरों के संदेह को दूर करके उन्हें निर्भय करें। सरकार इस सिद्धान्त को नहीं छोड सकती। और हमने अपने आज तक के व्यवहार में इसे मंजूर भी किया है। इसलिए यदि उसका हम विरोध भी करना चाहें तो भी जबतक इसके लिए नवीन कारण पैदा नहीं होते तबतक हम उसके प्रतिकूल नहीं जा सकते। हमारा यह युद्ध उस सिद्धान्त को तोडने के लिए नहीं बल्कि कानून का वह कलंक दूर करने के लिए है। इसलिए हमारी कौम में आज जो नवीन शक्ति प्रगट हो गई है उसका उपयोग करने के लिए एक बिल्कुल नई बात को आगे कर दें तब तो सत्याग्रही के सत्य को कलंक लगेगा। इसलिए यदि सच पूछा जाय तो इस समझौते का अस्वीकार करना अयोग्य होगा। अब इस बात पर विचार करें कि खूनी कानून रद होने के पहले ही से हम अपने हाथ क्यों काट डालें? क्यों अपने शस्त्र छोड बैठें? इसका उत्तर तो बहुत सरल है। सत्याग्रही डर को तो सौ कोस पर रखता है। इसलिए वह किसी भी बात का विश्वास करने में कभी न डरेगा। बीस बार भी उसके साथ विश्वासघात होने पर भी इक्कीसवीं बार वह विश्वास करने को तैयार हो जायगा। क्योंकि सत्याग्रही अपनी नैया विश्वास के ही सहारे पर चलाता है। इसलिए इस समय यह कहना कि समझौते का स्वीकार करना अपने हाथ काटना है सत्याग्रह का अज्ञान प्रकट करना है। फर्ज कीजिए कि हम नये परवाने ले लें, और बाद सरकार विश्वास-घात करे—खूनी कनून को रद न करे तो क्या उस समय हम फिर सत्याग्रह न कर सकेंगे? अगर हम परवाने ले भी लें पर ज़ब वे मांगे जावें

तक बताने से इनकार कर दें तो उन परवानों का महत्त्व ही क्या रहा ? और अगर ऐसा करते हुए हजारों भारतीय ट्रान्सवाल में गुप्तरूप से घुस आवें तो उनकी और हमारी सरकार के पास क्या पहचान रही ! इसलिए कानून के होते हुए भी या उसके अभाव में भी सरकार बिना हमारी सहायता के हम पर अधिकार नहीं चला सकती । कानून का मतलब तो सिर्फ यही है कि सरकार हमपर जो नियन्त्रण रखना चाहती हो उसे अगर हम न मानें तो सजा के पात्र माने जावें । और साधारणतया होता भी यह है कि मनुष्य प्राणी अक्सर सजा के भय से किसी भी नियन्त्रण को कुबूल कर लेता है। पर सत्याग्रही इस सामान्य नियम का उल्लंघन करता है । अगर वह किसी कानून को मानता है तो वह उसके दण्ड के भय के कारण नहीं बल्कि स्वेच्छा--पूर्वक और यह समझकर कि उससे जनता का कल्याण होगा । और यही स्थिति आजकल हमारे इन परवानों की है । सरकार धोखा देकर भी इस परिस्थिति को बदल नहीं सकती । इस स्थिति के उत्पन्नकर्ता हम हैं और उसे हमी बदल सकते हैं । जबतक सत्याग्रह का हथियार हमारे हाथों में है तबतक हम स्वतंत्र हैं, निर्भय हैं। और मुझे यदि कोई कहे कि आज कौम में जो उत्साह है वह फिर से नहीं आ सकता तो मैं उन्हें कहूंगा कि आप सत्याग्रही नहीं है, आपने सत्याग्रह को समझा ही नहीं । उनके कहने का मतलब तो यह होगा कि आज जो शक्ति दृष्टिगोचर हो रही है, वह सच्ची नहीं, शराब के नशे जैसी झूठी और क्षणिक है । और यदि यह बात सच हो तो हम जीत नहीं सकते । इतने पर भी अगर जीत हुई तो जीती हुई बाजी को गंवा देंगे । मान लीजिए कि यदि सरकार खूनी कानून को रद कर दे, और बाद हम स्वेच्छापूर्वक परवाने लें, और यदि सरकार

फिर खूनी कानून पास कर दे और फिर इन्हीं परवानों को लेने के लिए हमें मजबूर करे तब सरकार को कौन रोकेगा ? यदि आज हमें अपने बल के विषय में शंका हो तो क्या उस समय भी ऐसी ही दुर्दशा न होगी ? इसलिए इस समझौते को चाहे जिस दृष्टि से देखिए उसको मंजूर करने में हमारी किसी प्रकार की हानि नहीं। उल्टे कौम तो मजबूत होगी। मेरा तो यह भी विश्वास है कि हमारी न्यायबुद्धि, तथा नम्रता देखने पर हमारे विरोधी भी अपने विरोध को मंद कर देंगे।" इस प्रकार इस छोटी-सी बैठक में जिन एक दो आदमियों ने समझौते का कुछ विरोध किया था उनको मैंने सन्तुष्ट कर दिया। पर मध्यरात्रि की बडी सभा में जो गडबड-सडबड होनेवाली थी उसका तो मुझे पता तक न था। मैंने सभा को पूरा समझौता पढ सुनाया और समझा दिया। फिर कहा "इस समझौते से कौम की जिम्मेवारी बहुत अधिक बढ जाती है। यह बताने के लिए कि हम छल-कपट से एक भी बाहरी भारतीय को ट्रान्सवाल में लेना नहीं चाहते, हमें स्वेच्छा-पूर्वक परवाने लेना होंगे। जो लोग परवाने न लें उन्हें अभी तो कोई सजा नहीं दी जायगी पर उसका यह भी अर्थ जरूर होगा कि कौम समझौते को मंजूर नहीं करती। इसलिए अब यह आवश्यक है कि आप अपने हाथ ऊंचे करके यह कह दीजिए कि आप समझौते का स्वीकार करते हैं। यही मैं चाहता भी हूं। साथ ही आपकी इस स्वीकृति का यह अर्थ होगा—कम से कम मैं तो उसका यही अर्थ करूंगा कि आप हाथ ऊंचे करनेवाले, नये परवाने लेने की व्यवस्था होते ही फौरन् उन्हें ले लेंगे और आज तक आप जो यह समझाने के लिए स्वयंसेवक बन रहे थे कि परवाने न लिये जांय अब उसके स्थान पर आप

परवाना लेने के लिए स्वयंसेवक बनकर समझावें । जिस काम को हमें इस समय करना जरूरी है उसे अगर हम कर डालेंगे तो भी इस जीत का सच्चा सच्चा फल हमें मिलेगा ।

मैंने भाषण समाप्त किया कि एक पठान भाई खडे हुए और उन्होंने सवालों की झडीसी मुझपर बांध दी ।

"इस समझौते के अनुसार हमें अपनी दसों उंगलियों की छाप देना पडेगी न ?"

"हां, और नहीं भी । मेरी तो यही सलाह है कि सभी दसों उंगलियों की छाप दे दें । पर जिन्हें यह करने में धार्मिक आपत्ति हो अथवा अवमानना मालूम होती हो वे अगर न भी दें तो कोई हानि नहीं ।"

"आप खुद क्या करेंगे ?"

"मैं तो पहले ही से अपनी दसों उंगलियों की छाप देने का निश्चय कर चुका हूं । यह तो मुझसे कदापि नहीं हो सकता कि मैं न करूं और आपही को वह काम करने की सलाह दूं ।"

"आप तो इन छापों के विषय में बहुत लिखते थे । यह सिखानेवाले भी तो आपही हैं कि ऐसी छापें तो केवल मुजरिमों से ही ली जाती है । आप यह भी सिखाया करते थे कि यह युद्ध दस उंगलियों का है । वे सब बातें आज कहां गई ?"

"दस उंगलियों के विषय में मैंने पहले जो कुछ भी लिखा है उसपर मैं आज भी दृढ हूं । यह बात तो मैं आज भी कहूंगा कि भारत में केवल जुर्म करनेवाली जातियों से ही दस उंगलियों की छाप ली जाती है । मैंने तो यह भी कहा है और आज भी कहता हूं कि खूनी कानून के डर से उंगलियों की छाप तो क्या दस्तखत देना भी पाप है । दस उंगलियोंवाली बात पर मैंने बहुत जोर दिया

है और मैं मानता हूं कि मैंने उसमें कोई बुराई नहीं की, भलाई ही की है। मैंने अनुभव से देखा है कि कौम को खूनी कानून की बारीकियां समझाने के बदले दस उंगलियों के जैसी मोटी और नयी बात पर जोर देना अधिक आसान है। अगर उन बारीकियों को देखा करते तो वे आजतक भी पूरी न होतीं। मेरे उस उपाय से कौम भी फौरन् समझ गई। पर आज की स्थिति भिन्न है। मैं जोर देकर कहना चाहता हूं कि जो बात कल अपराध थी वही आज नवीन परिस्थिति में भलमनसाहत और खानदानी का निशान हो गई है। अगर आप मुझे बलपूर्वक सलाम करने के लिए मजबूर करें और मैं उसे मान लूं तो आपकी तथा स्वयं मेरी दृष्टि में मैं गिर जाऊं। पर यदि इसके विपरीत मैं आपको अपना भाई अथवा इन्सान समझकर खुशी से सलाम करूं तो इससे मेरी नम्रता और खानदानी जाहिर होगी और खुदा के दरबार में भी यह बात मेरी ओर लिखी जायगी। यही दलील मैं दस उंगलियोंवाली बात के लिए भी पेश करता हूं।"

"हमने सुना है कि आपने कौम को धोखा दिया है और १५,००० पौंड लेकर उसे जनरल स्मट्स के हाथ बेंच दी है। हम कभी अपनी उंगलियों की छाप नहीं देंगे और न किसीको देने देंगे। मैं खुदा कीं कसम खा कर कहता हूं कि जो आदमी एशियाटिक आफिस में जाने को आगे बढेगा उसे मैं जान से मार डालूंगा।"

"पठान भाइयों के भावों को मैं समझ सकता हूं। मुझे विश्वास है कि इस बात को तो कोई नहीं मान सकता कि मैं रिश्वत लेकर कौम को बेंच दूंगा। जिन्होंने इस बात की कसम खा ली हो कि हम दसों उंगलियों की छाप नहीं देंगे वे भले ही न दें उन्हें कोई मजबूर नहीं कर सकता। यह बात तो मैं पहले

ही समझा चुका हूं। और जो कोई—फिर वे पठान हों या अन्य-अपनी उंगलियों की छाप बिना दिये परवाने लेना चाहते हों उनकी पूरी सहायता स्वयं मैं करूंगा। और मैं विश्वास दिलाता हूं कि बिना ही निशानियों के वे स्वेच्छापूर्वक परवाने ले सकते हैं। पर मुझे कुबूल करना होगा कि जान लेने की धमकी मुझे नहीं रुचती। मेरा यह भी ख्याल है कि किसीकी जान लेने की कसम खुदा का नाम लेकर नहीं ली जा सकती। इसलिए मैं तो यही समझूंगा कि इस भाई ने गुस्से के आवेश में ही मेरी जान लेने की कसम खाई है। वे इस कसम पर अमल करें या न करें। पर यह समझौता करनेवालों में एक मुख्य मनुष्य तथा कौम के सेवक की हैसियत से मेरा कर्तव्य तो स्पष्ट है। मुझे अपनी उंगलियों की छाप देने के लिए सबसे आगे जाना चाहिए। परमेश्वर से भी मैं यही मांगूंगा कि वह मुझे सबसे पहले यह काम करने का मौका दे। मरना तो सबको है। फिर रोग या अन्य किसी कारण से मरने की अपेक्षा मैं अपने किसी भाई के हाथ मरूं तो इससे मुझे जरा भी दुःख नहीं हो सकता। और अगर मृत्यु के समय भी मैं किसीपर क्रोध न करूं अथवा मुझे मारने-वाले का द्वेष न करूं तो मेरा भविष्य तो अवश्य सुधर जाय। साथ ही मारनेवाले को भी पीछे से विश्वास हो जायगा कि मैं निर्दोष था।"

अब यह समझा देना जरूरी है कि उपर्युक्त प्रश्न क्यों किये गये। यद्यपि कानून को माननेवाले भारतीयों के प्रति कोई द्वेषभाव न रक्खा गया था तथापि उस कार्य के विषय में तो बहुत-कुछ और सो भी सख्त शब्दों में कहा और 'इण्डियन ओपीनियन' में लिखा गया था। इसलिए उनका जीवन जरा भारी हो गया

था। उन्हें यह जरा भी विश्वास न था कि कौम का इतना बडा हिस्सा अपने शब्द पर कायम रहेगा और यहांतक शक्तिशाली होगा कि सरकार को समझौता करने का मौका आवे। पर जब १५० से भी अधिक सत्याग्रही कैदी हो गये और समझौते की बातचीत होने लगी तब कानून को माननेवालों को और भी बुरा मालूम होने लगा। और उनमें कोई ऐसे भी निकले जो यह कदापि बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि समझौता हो जाय, और अगर हो रहा हो तो इच्छा करें कि वह असफल हो। ट्रान्सवाल में बहुत कम पठान रहते थे। मेरा ख्याल है कि सब मिल कर ५० से अधिक न होंगे। उनमें से अधिकांश लडाई के समय सिपाही बनकर आये थे और जिस प्रकार युद्ध के लिए आये हुए गोरे वहीं बस गये ठीक उसी प्रकार पठान और अन्य कितने ही भारतीय भी वहीं रह गये। इनमें से कितने ही मेरे मवक्किल थे। यों तो और भी अन्य प्रकार से मैं उन लोगों को अच्छी तरह जानता था। वे स्वभाव के बडे भोले होते हैं। बहादुर तो अवश्य ही हैं। मारना मरना उनके लिए एक साधारण बात है। जब वे किसीसे खुब रुष्ट हो जाते हैं तब वे उसे पीटते—अथवा उन्होंकी भाषा में कहना चाहें तो उसकी पीठ खूब गरम कर देते हैं, और कभी कभी तो मार भी डालते हैं। यह सब वे सरलतापूर्वक कर डालते हैं। सगे भाई के साथ भी वे इसी प्रकार बर्ताव रखते हैं। वहां यद्यपि पठान इतनी अल्पसंख्या में रहते हैं तथापि जब कभी उनमें तकरार होती है तब वे अक्सर मारपीट कर बैठते हैं। कई बार ऐसे झगडों में पडकर उन्हें मुझे निपटाना पडा है। तिसपर भी जहांकहीं वे विश्वासघात की बात सुन लेते हैं कि उनके लिए अपना गुस्सा रोकना असम्भव हो जाता है।

न्याय प्राप्त करने के लिए सबसे बढिया उपाय उनके पास मारपीट ही है। पठान लोग इस युद्ध में अच्छी तरह भाग लेते थे। उनमें से एक भी आदमी ने उस कानून के आगे सिर नहीं झुकाया था। उनको बहकाना एक आसान बात थी। दस उंगलियोंवाली बात के विषय में उनमें गलतफहमी का होना एक ख्याल में आने योग्य बात है। उन्हें उस विषय में उत्तेजित करना जरा भी कठिन नहीं था। पठानों को संदेह में डालने के लिए इतना कह देना काफी था कि अगर मैंने रिश्वत नहीं ली होती तो दसों उंगलियों की छाप देने का कहने की मुझे क्या पडी थी? इसके अतिरिक्त एक दूसरा पक्ष भी ट्रान्सवाल में था। इसमें दो प्रकार के लोग थे एक तो वे जो ट्रान्सवाल में बिना परवाना लिये गुप्त रूपसे आये हुए थे। और दूसरे उनको इस काम में सहायता करनेवाले या स्वयं अपनी ओर से लानेवाले। इस पक्ष का स्वार्थ इसी बात में था कि समझौता न हो। जबतक युद्ध चलता हो तबतक किसीको परवाने दिखाने से कोई मतलब नहीं था। इसलिए यह पक्ष तबतक अपना व्यवहार निर्भयरूप से चला सकता था। ओर युद्ध चले तबतक तो यह पक्ष अपने को जेल से भी बचा सकता था। अर्थात इनके लिए जितनी लडाई अधिक चलती उतना ही भला था। इसलिए ये लोग भी पठानों को समझौते के खिलाफ उत्तेजित कर सकते थे। अब पाठक समझ सकते हैं कि पठान लोग अकस्मात् इस प्रकार क्यों उत्तेजित हो गये।

पर इस मध्यरात्रि के उद्गारों का असर सभा पर बिल्कुल नहीं हुआ। मैंने सभा को मत देने के लिए कहा। सभापति और अन्य अगुआ लोग तो दृढ थे। इस संवाद के बाद सभापति ने एक भणष किया जिसमें उन्होंने समझौते को स्पष्टतया फिर समझाया

और उसका स्वीकार करने के लिए जनता से कहा। फिर सभा का मत लिया। दो–चार पठानों को छोड कर (जो उस समय उपस्थित थे) सबने समझौते को मंजूर कर लिया। मैं सुबह २–३ बजे घर पहुंचा। नींद तो कैसे ले सकता था? क्योंकि मुझे सुबह जल्दी उठकर दूसरे साथिओं को छुडाने के लिए जाना था। सात बजे मैं जेल पर पहुंच गया। सुपरिन्टेन्डन्ट को टेलीफोन से हुक्म मिल गया था। और वह मेरी राह ही देख रहे थे। एक घण्टे भर के अन्दर तमाम सत्याग्रही कैदियों को छोड दिया। सभापति वगैरा कई भारतीय सबको लेने के लिए आये थे। जेल से हमारा जुलूस पैदल सभास्थान पर गया। फिर वहां सभा हुई। वह दिन और उसके बाद दो–चार दिन और यों ही मिहमानियों और लोगों को समझाने में लग गये। जैसे जैसे समय बढता गया वैसे वैसे एक ओर तो समझौते का रहस्य-महत्त्व अधिकाधिक लोग समझने लगे और दूसरी ओर गलतफहमी भी बढती गई। उत्तेजना के कारणों को तो हम देख ही चुके हैं। उनके अतिरिक्त जनरल स्मट्स के लिखे पत्र में भी गलतफहमी के लिए काफी मसाला था। उसके फलस्वरूप जो दलीलें की जातीं उनको समझाने में मुझे जो कष्ट हुआ उसके मुकाबले में वह कष्ट कुछ भी न था जो मुझे युद्ध चल रहा था तब सहन करना पडा था। युद्ध के समय जिसे हमने अपना दुश्मन मान लिया था उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय वही एक कठिनाई होती है। पर उस समय की कठिनाइयों को तो हम आसानी से पार कर जाते हैं। क्योंकि उस समय आपस के झगडे, अविश्वास वगैरा बिल्कुल नहीं अथवा बहुत कम परिमाण में होते हैं। पर युद्ध के बाद भीतरी भेदभाव आदि बाह्य आपत्ति के अदृश्य होते ही फिर प्रबल हो जाते

हैं। यद्यपि लडाई का अंत सन्तोषजनक हुआ हो तो भी उसमें दोष निकालना सदा आसान होता है और कई लोग उस काम को उठा लेते हैं। और यह तो यथार्थ ही है कि जहां तंत्र कौमी या प्रजासत्ताक होता है वहां सबके — छोटे-बडों के — सवालों का उत्तर देना पडता है और अपने मित्रों की गलतफहमी दूर करने में जितना अनुभव मनुष्य को प्राप्त होता है उतना शत्रु के साथ लडते हुए नहीं प्राप्त हो सकता। प्रतिपक्षी के साथ लडते हुए एक प्रकार का नशा आदमी को चढ जाता है और उसमें वह मस्त रहता है। पर जब मित्रों में गलतफहमी अथवा विरोध पैदा हो जाता है तब वह एक असाधारण बात मानी जाती है, और हमेशा दुःख ही देती है। तथापि मनुष्य की परीक्षा ऐसे ही समय पर होती है। मेरा तो यही निरअपवाद अनुभव है; बल्कि मुझे यह विश्वास है कि मैं अपनी तमाम आंतरिक शक्ति ऐसे ही मौकों पर प्राप्त कर सका हूं। जो लोग युद्ध का सच्चा स्वरूप लडते लडते भी नहीं समझ पाये थे वे समझौते के समय और कितने ही समझौते के बाद भी समझे। मेरा विरोध पठानों से आगे नहीं बढा।

इस प्रकार दो-तीन महीने में एशियाटिक आफिस ऐच्छिक परवाने देने को तैयार हो गया। परवाने का रूप बिल्कुल बदल गया था। उसे बनाते समय सत्याग्रही मण्डल के साथ परामर्श किया गया था।

ता. १० फरवरी सन १९०८ के दिन हम कितने ही शख्स परवाना लेने के लिए जाने को तैयार हो गये। लोगों को खूब समझाया गया था कि वे फौरन् अपने आप परवाने ले लें। यह भी निश्चित हो चुका था कि पहले दिन अगुआ लोग

ही परवाने लें। उसके तीन हेतु थे। एक तो संदेह का भय भगा देना, दूसरे यह देखना था कि एशियाटिक आफिस के लोग काम को प्रामाणिकता के साथ करते हैं या नहीं और तीसरे, कौम की देखभाल भी करना। मेरा दफ्तर ही सत्याग्रह आफिस था। मैं वहां पहुंचा कि मैंने आफिस की दीवाल के बाहर मीर आलम और उसके मित्रों को देखा। मीर आलम मेरा पुराना मवक्किल था। अपने तमाम कामों में वह मेरी सलाह लेता था। कितने ही पठान ट्रान्सवाल में घांस और बालों के गदेले बनवाने का काम करते थे। उसमें वे अच्छा फायदा उठाते थे। मजदूरों से वे गदेले बनवा लेते और अच्छा नफा लेकर बेंच देते थे। मीर आलम भी यही काम करता था। वह छः फूट से भी अधिक ऊंचा जवान था। शरीर भी दुहेरा था। आज मैंने मीर आलम को पहले पहल ही आफिस के बाहर इस प्रकार खड़ा हुआ देखा। नहीं तो वह अक्सर अन्दर जा कर बैठ जाया करता था। हमारी आंखें मिलीं। पर उसने आज पहली ही मरतबा सलाम नहीं किया। मेरे सलाम करने पर उसने भी किया। अपने रिवाज के अनुसार मैंने पूछा "कैसे हो?" मुझे अधूरी याद है कि उसने उत्तर में कहा "अच्छा हूं।" पर आज उसका चेहरा हमेशा की तरह खुशनुमा नहीं था। मैंने देख लिया और अपने दिल में इस बात को नोट कर लिया। उसी समय यह भी सोच लिया कि आज कुछ गोलमाल है। मैं आफिस के अन्दर घुसा। शीघ्र ही ईसप मियां और अन्य मित्र भी आ पहुंचे और हम एशियाटिक आफिस की ओर रवाना हुए। मीर आलम और उसके साथी भी पीछे पीछे हो लिए। मेरे आफिस से एशियाटिक आफिस का लिया हुआ मकान एक मील से भी कम फासले पर था। वह एक विशाल

चौक में था। वहां आते हुए हमें एक आम रास्ते पर होकर जाना पडता था। आफिस पांच एक कदम के रास्ते पर रहा होगा कि मीर आलम मेरी बगाल में आ पहुंचा और उसने पूछा: 'कहां जाते हो?' मैंने उत्तर दिया "दस उंगलियों की छाप देकर रजिस्टर निकलवाना चाहता हूं, अगर तुम भी चलोगे तो तुम्हें उंगलियों की छाप नहीं देना होगी। तुम्हारा रजिस्टर पहले निकलवा कर फिर बाद मैं अपनी उंगलियों की छाप देकर मेरा रजिस्टर निकलवाऊंगा।" इतना मैं कही रहा था कि इतने में पीछे से मेरी खोपडी पर एक लाठी गिरी। मैं तो बेहोश होकर मुंह के बल गिर पडा। इसके बाद क्या हुआ यह मैं नहीं जानता पर मीर आलम और इसके साथियों ने और भी लाठियां और लातें भी मारीं थीं। उनमें कितनी ही ईसपमियां और थम्बी नायडु ने अपने ऊपर झेल लीं। इसलिए ईसपमियां और थम्बी नायडु दोनों को थोडी थोडी चोट आई। इतने में तो चारों ओर शोर मच गया। राहगीर गोरे इकट्ठा हो गये। मीर आलम और उसके साथी भागे पर गोरों ने उन्हें पकड लिया। तबतक पुलिस भी आ पहुंची। वे पुलिस के सिपुर्द कर दिये गये। बगल में ही एक गोरे का आफिस था, वहां मुझे उठाकर ले गये। थोडी देर में जब मुझे होश आया तब मैंने अपने चेहरे पर झुके हुए रेवरंड डोक को देखा। उन्होंने पूछा "अब कैसे हो?" मैंने हंसकर कहा "मैं तो ठीक हूं पर मेरे दांत और पसलियों में दर्द है। मीर आलम कहां है?" उत्तर मिला वह और उसके साथी भी गिरफ्तार हो गये। मैंने कहा "वे तो छूटने चाहिए।" डोक ने उत्तर दिया "यह सब होता रहेगा। यहां तो आप एक अपरिचित गृहस्थ के आफिस में पडे हुए हैं, आपका होंठ फट गया है, पुलिस आपको अस्पताल

ले जाना चाहती है। पर अगर आप मेरे यहां चलें तो मिसीस डोक और मैं अपनी शक्तिभर आपकी शुश्रूषा करेंगे। मैंने कहा "मुझे तो आप ही के यहां ले चलो। पुलिस के कहने के लिए मेरी ओर से उसका अहसान मान लीजिएगा। उन लोगों को कहिएगा कि मैं आपके यहां जाना चाहता हूं।" इतने में एशियाटिक आफिस के अधिकारी भी आ पहुंचे। एक गाडी में डालकर मुझे इस पादरी सज्जन के मकान पर ले गये। डॉक्टर को भी बुलाया गया। पर इसके बीच ही मैंने एशियाटिक अधिकारी मि० चमनी से कहा:—"मैं तो यह उम्मीद करता था कि आपके दफ्तर में जाकर दसों उंगलियों की छाप देकर सबसे पहले मैं परवाना लूं। पर ईश्वर को यह मंजूर न था। पर अब कृपया यहींपर अपने कागज मंगाकर मुझे रजिस्टर कर लीजिए। मैं आशा करता हूं कि आप मेरे पहले किसीको रजिस्टर न करेंगे।" उन्होंने कहा "ऐसी कौन जल्दी पडी है? अभी डाक्टर साहब आते हैं। आपको जरा तसल्ली हो जाने दीजिए फिर सब होता रहेगा। दूसरों को परवाने अगर दूंगा तो भी आपका नाम सब से पहले रक्खूंगा।" मैंने कहा "यह नहीं हो सकता। मेरी तो यह प्रतिज्ञा है कि अगर जीता बच रहा और परमात्मा की इच्छा हुई तो मैं ही सबसे पहले परवाना लूंगा। इसीलिए तो मैं इतना आग्रह कर रहा हूं। आप कागज ले आइए।" अब वे गये। मेरा दूसरा काम यह था कि अटर्नी जनरल अर्थात् सरकारी वकील को यह तार कर देना कि "मीर आलम और उसके साथियों ने मुझपर जो हमला किया है उसके लिए मैं उन्हें दोषी नहीं समझता। चाहे जो हो मैं यह चाहता हूं कि उनपर फौजदारी केस न कायम किया जाय। मैं आशा रखता हूं कि आप उन्हें मेरे लिए मुक्त कर देंगे।" इस

तार के कारण मीर आलम और उसके साथियों को छोड दिया गया।

पर जोहान्बर्ग के गोरों ने अटर्नी जनरल को नीचे लिखे अनुसार एक सख्त पत्र लिखा :—

"मुलजिमों को सजा देने न देने के विषय में गांधी के चाहे जो विचार हों, वे यहांपर नहीं चल सकते। खुद उसीको मारा है इसलिए वह भले ही उनका कुछ न करे। पर मुलजिमों ने उसे उसके घर के कोने में ले जा कर नहीं मारा है। जुर्म सरे आम आमरास्ते पर हुआ है। यह एक सार्वजनिक अपराध है। कितने ही अंगरेज इस बात का सबूत दे सकते हैं। मुलजिमों को फिर गिरफ्तार करना जरूरी है।"

इस हलचल के कारण सरकारी वकील ने मीर आलम और उसके साथियों को फिर गिरफ्तार करवाया, और उन्हें छः छः महीने की सजा हुई। हां मुझे गवाह बनाकर नहीं बुलाया गया।

आइए, अब घायल के कमरे में चलें। मि. चमनी कागज वगैरह लेने को गए इतने में डाक्टर आ पहुंचे। उन्होंने मेरे शरीर को जांचा। मेरा होंठ फट गया था उसे जोडा। पसलियों की जांच कर मालिस करमे की दवा दी। और होंठ के टांके टूटने न पावें इस तरह केवल धीरे धीरे बोलने की इजाजत दी। खाने के लिए सिवा प्रवाही पदार्थ के सब मना कर दिया। वे इस नतीजे पर पहुंचे कि मुझे कहीं भी अधिक चोट नहीं पहुंची थी। आठ दिन के अन्दर मैं बिस्तर छोड कर साधारण हालत में रह सकूंगा। सिर्फ एक दो महीने कोई शारीरिक परिश्रम नहीं करना चाहिए आदि कह कर वे चले गये। अब मेरा बोलना बंद था। केवल हाथ हिला सकता था। इसलिए एक छोटा सा गुजराती कागज

कौम को लिखकर अध्यक्ष के द्वारा प्रकाशित करने के लिए भेज दिया। वह इस प्रकार है:—

"मेरी प्रकृति अच्छी है। मि० और मिसीस डोक मेरे लिए जान दे रहे हैं। मैं कुछ ही दिनों में अपना काम संभालने लायक हो जाऊंगा। हमला करनेवालों पर मुझे कोई रोष नहीं है। उन्होंने यह अज्ञान के कारण किया है। उनपर कोई मामला न चलाया जाय। अगर अन्य लोग सब शांत रहेंगे तो यह घटना भी हमारे लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

हिन्दू लोग अपने दिल में जरा भी गुस्सा न लावें। मैं चाहता हूं कि घटना से हिन्दू मुसलमानों के बीच वैमनस्य नहीं, प्रेम बढे। परमात्मा से मेरी यही प्रार्थना है।

मुझे मार खानी पडी। और भी खाना पडे तो भी मैं तो यही सलाह दूंगा कि सब मिलकर यही प्रयत्न कीजिए कि हम में से अधिकांश मनुष्य अपनी दसों उंगलियों की छाप दें। कौम का और गरीबों का इसीमें भला है, रक्षण है।

अगर हम सच्चे सत्याग्रही होंगे तो मार की या भविष्य में दगा होने की आशंका से जरा भी नहीं डरेंगे।

जो दस उंगलियोंवाली बात पर ही अडे हुए हैं वे गलती कर रहे हैं।

मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूं और मांगता हूं कि वह कौम का भला करे, उसे सत्य मार्ग पर ले चले, और हिन्दू तथा मुसलमानों को मेरे खून से एक करें।"

मि० चमनी लौटे। बडी मुश्किल से मैंने अपनी उंगलियों की छाप दी। उस समय मैंने उनकी आंखों में आंसू देखे। उनके खिलाफ तो मुझे बडे सख्त लेख लिखना पडे थे। पर

उस समय मेरी आंखों के सामने इस बात का चित्र खडा होगया कि मौका पडने पर मनुष्य हृदय कितना कोमल हो सकता है। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि इस विधि में बहुत समय नहीं लगा। मि०डोक और उनकी धर्मपत्नी इस बात के लिए बडी आतुरता प्रकट कर रहे थे कि मैं शान्त और स्वस्थ हो जाऊं? चोट के बाद मेरी मानसिक प्रवृत्ति के कारण उन्हें दुःख हो रहा था। उन्हें यह भय था कि कहीं मेरे स्वास्थ्य पर इसका विपरीत परिणाम न हो। इसलिए संकेत करके तथा अन्य युक्ति से वे पलंग के पास से सबको दूर ले गये और मुझे लिखने वगैरह की मुमानियत कर दी। मैंने चाहा (और उसे लिख कर प्रकट किया) कि बिलकुल शांत होकर सोने के पहले और चित्त शांति के लिए उनकी लडकी ओलिव, जो उस समय बालिका थी, मुझे मेरा प्रिय अंगरेजी भजन सुना दे। नरसिंहराव ने इसका गुजराती अनुवाद किया है। उसपर से बहुत से गुजराती इस भजन का अर्थ जानते हैं। उसकी पहली लाइन इस प्रकार है

Lead kindly light—

मेरी यह इच्छा डोक को खूब भायी। उन्होंने अपने इस भाव को मधुर हास्य द्वारा प्रकट करते हुए ओलिव को बुलाया और दरवाजे के बाहर खडी रहकर मन्द स्वर में वह भजन गाने के लिए उससे कहा। यह लिखते समय वह पूरा दृश्य मेरी आंखो के सामने खडा हो रहा है। और ओलिव की वे दिव्य तानें अब भी मेरे कानों में गूंज रही हैं।

इस प्रकरण में मैं कई ऐसी बातें लिख गया जिन्हें स्वयं मैं और पाठक अनावश्यक मानेंगे। तथापि मैं एक और स्मरणीय प्रसंग को यहां दिये बिना नहीं रह सकता। उस समय के स्मरण

मेरे लिए इतने पवित्र हैं कि मैं उन्हें छोड नहीं सकता। डोक के कुटुम्ब ने मेरी जो सेवा की उसका वर्णन मुझसे कैसे बन सकता है? जोसेफ डोक बैप्टिस्ट संप्रदाय के पादरी थे। दक्षिण आफ्रिका में आने के पहले वे न्यूझीलैंड में थे। इस घटना के छः महिने पहले की बात है, एक दिन वे मेरी आफिस में आये और अपना कार्ड भेजा। उसमें 'रेवरंड' विशेषण का उपयोग किया गया था। इसपर से मैंने झूठमूठ ही यह कल्पना कर ली कि जिस प्रकार अन्य कितने ही पादरी या तो मुझे ईसाई बनने का उपदेश करने या आन्दोलन बंद करने को कहने के लिए आते हैं, ठीक उसी काम के लिए अथवा बुजुर्ग बन कर मेरे साथ सहानुभूति दिखाने के लिए वे भी आये होंगे। पर ज्योंही मि. डोक अन्दर आये और बातचीत करने लगे त्यों ही चन्द मिनटों में मैंने अपनी भूल को समझ लिया और दिल ही दिल में क्षमा मांग ली। उस दिन से हम बडे मित्र बन गये। युद्ध सबंधी तमाम समाचारों से आपने अपने को परिचित बताया और कहा इस युद्ध में आप मुझे अपना मित्र ही समझिए। मुझसे जो कुछ सेवा बनेगी वह सब मैं अपना धर्म समझ के करने की इच्छा रखता हूं। ईसा के जीवनादर्श का चिंतन मनन करके मैंने तो यही सीखा है कि आपत्काल में दीन दुखियों का साथ देना। यह हमारा पहला परिचय था। इसके बाद दिन ब दिन हमारा स्नेह-संबंध बढता ही गया। पाठक इस इतिहास में डोक का नाम आगे भी कई स्थानों पर पढेंगे। पर डोक कुटुम्ब ने मेरी जो सेवा की उसका वर्णन करने के पहले उनका थोडा बहुत परिचय दे देना भी आवश्यक था। रात हो या दिन कोई न कोई मेरे पास जरूर बैठा रहता था। जबतक मैं उनके घर में रहा तबतक उनका मकान केवल एक धर्मशाला ही

बन गया था ? भारतीयों में फेरीवाले वगैरा भी थे। उनके कपडे मजदूरों के जैसे और मैले भी रहते। उनके साथ में एक गठरी या टोकरी भी अवश्य रहती। जूतों पर सेर भर धूल ! ऐसे लोगों से लगाकर अध्यक्ष तक के सभी दर्जे के लोगों की मि. डोक के घर एक कतार सी लग जाती थी। सब मेरा हाल पूछने और डाक्टर की इजाजत मिलने पर मुझे मिलने के लिए चले आते थे। सभीको वे समान भाव से और सम्मानपूर्वक अपने दीवानखाने में बैठाते और जबतक मैं उनके यहां रहा तबतक उनका सारा समय मेरी शुश्रूषा में और मुझे देखने भालने के लिए आनेवाले सैंकडों सज्जनों के आदर सत्कार ही में जाता। रात को भी दो तीन बार मि० डोक चुपचाप मेरे कमरे में आकर जरूर देख जाते। उनके घर पर मुझे एक दिन भी ऐसा ख्याल नहीं हुआ कि यह मेरा घर नहीं है, या मेरे संबंधी होते तो इससे अच्छी सेवा करते। पाठक यह भी ख्याल न कर लें कि इतने जाहिर तौरपर भारतीय आन्दोलन का पक्षपात करने तथा मुझे अपने घर में स्थान देने के लिए उन्हें कुछ भी सहना न पडा होगा। वे अपने पंथ के गोरों के लिए एक गिरजाघर चला रहे थे। उनकी आजीविका इन पंथवालों के हाथों में थी। कोई यह न मान लें कि सभी लोग उदार दिल के होते हैं। उन लोगों के दिल में भी भारतीयों के खिलाफ कुछ भाव थे ही। पर डोक ने इसकी कोई परवाह नहीं की। हमारे परिचय के आरम्भ ही में एक दिन मैंने इस नाजुक विषय पर चर्चा छेडी थी। उनका उत्तर यहां लिख देने योग्य है। उन्होंने कहा 'मेरे प्यारे दोस्त, ईसा के धर्म को आपने क्या समझ रक्खा है ? मैं उस पुरुष का अनुयायी हूं जो अपने धर्म के लिए फांसी पर लटक गया और जिसका प्रेम संसार भर पर था।

जिन गोरों के मुझे छोड देने का आपको डर है उनकी आंखों में ईसा के अनुयायी की हैसियत से जरा भी मैं शोभा पाना चाहूं तो मुझे जाहिरा तौर से अवश्य ही इस युद्ध में भाग लेना चाहिए और इसके फलस्वरूप यदि वे मेरा त्याग कर दें तो मुझे इसमें जरा भी बुरा न मानना चाहिए। इसमें शक नहीं कि मेरी आजीविका का आधार उनपर है पर आप यह कदापि न समझ बैठें कि आजीविका के लिए मैंने उनसे यह संबंध किया है या वे ही मेरी रोजी के देनेवाले हैं। मेरी रोजी का देनेवाला तो परमात्मा है। ये हैं केवल निमित्त मात्र। मेरा उनका संबन्ध होते समय हमारा उनका यह ठहराव हो चुका है कि मेरी धार्मिक स्वतंत्रता में उनमें से कोई हस्तक्षेप न करेगा। इसलिए आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें। मैं कोई भारतीयों पर अहसान करने के लिए इस युद्ध में सम्मिलित नहीं हो रहा हूं। मैं तो इसे अपना धर्म समझ कर ही इसमें भाग ले रहा हूं। पर असल बात यह है कि मैंने हमारे गिरजा के डीन के साथ बातचीत करके भी इस बात का खुलासा कर लिया है। मैंने उन्हें यह स्पष्ट कह दिया है कि अगर मेरा भारतीयों का सम्बन्ध आपको पसंद न हो तो आप खुशी से मुझे रुख़्सत दे सकते हैं, और अन्य मिनिस्टर को रोक भी सकते हैं। पर उन्होंने इस विषय में मुझे बिल्कुल निश्चिन्त कर दिया है, बल्कि और उत्साहित किया है। आपको यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि सभी गोरे आपकी ओर एकसी तिरस्कार की दृष्टि से ही देखते हैं। आप इस बात को नहीं जान सकते कि अप्रत्यक्ष रुप से आपके विषय में वे कितना सद्भाव रखते हैं। इसे तो मैं ही जान सकता हूं और आपको भी यह कुबूल करना होगा। इतनी स्पष्ट बातचीत होने पर फिर मैंने इस

नाजुक विषय पर कभी बातचीत नहीं छेडी। इसके कुछ साल बाद रे. डोक रोडेशिया में अपने धर्म की सेवा करते हुए स्वर्ग को चले गये। तब हमारा युद्ध समाप्त नहीं हुआ था। उनके मृत्यु के समाचार प्राप्त होने पर उनके पंथवालों ने अपने गिरजाघर में एक सभा निमन्त्रित की थी। उसमें काछलिया तथा अन्य भारतीयों के साथ साथ मुझे भी निमन्त्रण दिया गया था। मुझे उसमें भाषण भी देना पडा था।

अच्छी तरह चलने फिरने लायक होने को मुझे करीब दस ग्यारह दिन लगे होंगे। इस स्थिति को प्राप्त करते ही मैंने इस प्रेमी कुटुम्ब से रुख्सत मांगी। हम दोनों के लिए वह वियोग बडा दुःखदायी था।

अध्याय २३

गोरे सहायक

इस युद्ध में इतने गोरों ने—जिनमें कई प्रतिष्ठित भी थे, भारतीयों के पक्ष में काम किया कि यदि मैं यहांपर उनका एक साथ परिचय दे दूं तो कोई उसे अयोग्य नहीं कह सकता। इसमें कई फायदे हैं, एक तो यह कि आगे चलकर स्थान स्थान पर उनका उल्लेख आवेगा तब पाठकों को वे अपरिचित नहीं मालूम होंगे और दूसरे कथा प्रवाह में मुझे उनका परिचय देने के लिए बीच ही में रुकना नहीं पडेगा। जिस क्रम से मैं उनका परिचय दूं उसपर से पाठक न तो उनकी प्रतिष्ठा का क्रम समझें और न उनकी सहायता की कीमत का अंदाज लगावें। जिस क्रम से मुझे परिचय हुआ उसे तथा युद्ध के जिन जिन विभागों में सहायता दी गई उन्हें ध्यान में रखकर यहांपर उनका परिचय लिखा गया है।

सबसे पहले अल्बर्ट वेस्ट का नाम उल्लेखनीय है। कौम के साथ तो युद्ध के पहले ही से उनका सम्बन्ध हो गया था। पर मेरे साथ इससे भी पहले उनका परिचय हुआ था। जब मैंने जोहान्सबर्ग में अपना दफ्तर खोला उस समय मेरे साथ में बाल-बच्चे नहीं थे। पाठकों को याद होगा कि दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों का तार मिलते ही मैं एकदम रवाना हो गया था। और सो भी एक साल में लौट आने के बिचार से। जोहान्सबर्ग में एक निरामिष भोजन-गृह था। उसमें मैं नियम से सुबह शाम खाना खाने के लिए जाता था। बेस्ट भी वहीं आते थे। वहीं मेरा उनका परिचय हुआ। वे एक दूसरे गोरे के साथ भागीदार बनकर एक छापखाना चला रहे थे। सन १९०४ में जोहान्सबर्ग के भारतीयों में भीषण प्लेग का प्रकोप हुआ था। मैं रोगियों की सेवा शुश्रूषा में लग गया और फलतः उस भोजन-गृह का मेरा जाना अनियमित हो गया। जब कभी जाता तो इस ख्याल से कि मेरे संसर्ग का भय दूसरे गोरों को न हो, मैं सबके पहले ही भोजन कर लेता था। जब लगातार दो दिन तक उन्होंने मुझे नहीं देखा तब वे घबडा गये। तीसरे दिन सुबह जब मैं हाथ मुंह ही धो रहा था कि इतने में वेस्ट ने मेरे कमरे का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही मैंने वेस्ट का खुशनुमा चेहरा देखा।

वे प्रसन्न हो गये और बोले आपको देखते ही मेरे दिल को तसल्ली हुई। आपको भोजन-गृह में न देखकर मैं घबडा गया था। आपको अगर मुझसे कोई सहायता हो सकती हो तो जरूर कहिएगा।

मैंने हंसते हुए उत्तर दिया "मरीजों की शुश्रूषा करोगे?"

"क्यों नहीं? जरूर मैं तैयार हूं।"

इस विनोद के बीच मैंने कुछ सोच लिया। मैंने कहा "आप से मैं दूसरे प्रकार के उत्तर की अपेक्षा ही नहीं करता था। पर इस काम के लिए तो मेरे पास बहुत से सहायक हैं। आपसे तो मैं इससे भी कठिन काम लेना चाहता हूं। मदनजीत यहींपर रुका हुआ है। 'इण्डियन ओपीनियन' और प्रेस निराधार हैं। मदनजीत को मैंने प्लेग के काम के लिए रख छोड़ा है। आप अगर डर्बन जा कर उस काम को संभाल लें तो सचमुच यह बड़ी भारी सहायता होगी। उसमें आपको ललचाने योग्य तो कुछ भी नहीं। मैं तो आपको बहुत कम दे सकूंगा। सिर्फ दस पौंड मासिक वेतन। अगर प्रेस में कुछ लाभ हो तो उसमें आपका आधा हिस्सा रहेगा।

"काम जरूर जरा बेतुका है। मुझे अपने भागीदार की इजाजत लेनी होगी। कुछ उघाई भी बाकी है। पर कोई चिंता की बात नहीं। आज शाम तक की मोहलत आप मुझे दे सकते हैं।"

"अवश्य, हम लोग छः बजे शाम को पार्क में मिलेंगे।"

"जरूर मैं भी आ पहुंचूंगा।"

हम छः बजे शाम को मिले। भागीदार की इजाजत भी मिल गई। उघाई का काम मेरे जिम्मे करके दूसरे दिन शाम की ट्रेन से मि. वेस्ट रवाना हो गये। एक महीने के अंदर उनकी यह रिपोर्ट आईः "इस छापखाने में नफा तो नाम को भी नहीं है। नुकसान मात्र खूब है। उघाई बहुत बाकी है लेकिन हिसाब का कोई ठिकाना नहीं है। ग्राहकों के नाम भी पूरे नहीं लिखे गये हैं। मैं यह बतौर शिकायत के नहीं लिखता। आप विश्वास रखिए कि मैं नफे की लालच से यहां नहीं आया हूं अतः इस काम को भी नहीं

छोडूंगा। पर मैं आपको यह तो सूचित किये ही देता हूं कि बहुत दिन तक आपको घटी को पूरा करना होगा।"

ग्राहकों को बढाने तथा मेरे साथ कुछ बातचीत करने के लिए मदनजीत जोहान्सबर्ग आये थे। मैं हर महीने थोडे बहुत पैसे दे कर घटी की पूर्ति किया ही करना था। इसलिए मैं निश्चित रूप से यह जानना चाहता था कि और कितना गहरा इस काम में मुझे उतरना होगा? पाठकों से मैं यह तो पहले ही कह चुका हूं कि मदनजीत को छापखाने का कोई अनुभव नहीं था। इसलिए मैं इस बात के विचार ही में था कि किसी अनुभवी आदमी को उनके साथ में रख दिया जाय तो बडा अच्छा हो। यह विचार मैं कर ही रहा था कि इधर प्लेग का प्रकोप शुरू हो गया। इस काम में तो मदनजीत बडे कुशल और निर्भय आदमी थे। इसलिए मैंने उनको यहीं रख लिया। इसलिए वेस्ट के स्वाभाविक प्रश्न का उपयोग मैंने कर लिया। और उन्हें समझा दिया कि प्लेग के कारण ही नहीं बल्कि मुस्तकिल तौर पर उन्हें वहां रहना होगा। इसीलिए उन्होंने उपर्युक्त रिपोर्ट भेजी। पाठक जानते ही हैं कि इसीलिए छापखाने को तथा पत्र को भी फिनिक्स ले जाना पडा। वेस्ट के १० पौंड मासिक वेतन के बदले फिनिक्स में ३ पौंड हो गये। पर इन परिवर्तनों में वेस्ट की पूरी सम्मति थी। मुझे तो एक दिन भी ऐसा अनुभव नहीं कि उन्हें कभी यह विचार ही पैदा हुआ हो कि मेरी आजीविका कैसे चलेगी। धर्म का अभ्यास न होने पर भी वे एक अत्यन्त धार्मिक मनुष्य हैं। वे बडे ही स्वतन्त्र स्वभाव के मनुष्य हैं। जो वस्तु उन्हें जैसी दिखे उसे वैसी ही कहनेवाले हैं। काले को कृष्णवर्णी नहीं काला ही कहेंगे। उनकी रहन सहन बड़ी सीधी-

सादी थी । हमारे परिचय के समय वे ब्रह्मचारी थे । मैं जानता हूं कि वे ब्रह्मचर्य का पालन भी करते थे । कितने ही साल बाद वे इंग्लैंड गये और अपने मातापिता का क्रिया कर्म कर के अपनी शादी भी कर लाये । मेरी सलाह से अपने साथ में स्त्री, सास, और अपनी कुंवारी बहन को भी ले आये । वे सब फिनिक्स में ही बडी सादगी के साथ रहते थे और हर प्रकार से भारतीयों में मिल जाते थे । मिस वेस्ट अब ३५ वर्ष की हुई होगी । पर अब भी कुमारिका ही हैं । वे अपना जीवन बडी पवित्रता के साथ व्यतीत कर रही हैं । उन्होंने कोई कम सेवा नहीं की । फिनिक्स में रहनेवाले बालशिष्यों को रखना, उन्हें अंगरेजी पढाना, सार्वजनिक पाठशाला में रसोई करना, मकानों को साफ रखना, किताबें संभालना, छापखाने में टाइप जमाना (कम्पोज करना), तथा छापखाने का अन्य काम करना आदि सब काम वे करती थीं । इन कामों में से कभी एक काम के लिए भी इस महीला ने आना-कानी नहीं की । आजकल वे फिनिक्स में नहीं हैं । पर इसका कारण यह है कि मेरे भारतवर्ष लौट आने पर उनका हलका-सा भार भी छापखाना नहीं उठा सकता था । वेस्ट की सास की अवस्था इस समय ८० वर्ष से भी अधिक की होगी । वे सीलाई का काम बहुत अच्छा जानती हैं । और ऐसे काम में इतनी वयोवृद्धा महिला भी पूरी सहायता करती थी । फिनिक्स में उन्हें सब दादी (ग्रेनी) कहते थे और उनका बडा सन्मान करते थे । मिसेस वेस्ट के विषय में तो कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है । जब फिनिक्स में से बहुत से आदमी जेल में चले गये तब वेस्ट कुटुम्ब ने मगनलाल गांधी के साथ मिल कर फिनिक्स का सब कामकाज संभाल लिया था । पत्र और छापखाने के बहुत से

काम वेस्ट करते थे। मेरी तथा अन्य लोगों की अनुपस्थिति में गोखले को तार वगैरा भेजना होता तो वेस्ट ही भेजते। आखिर वेस्ट भी पकडे गये (पर वे फौरन छोड दिये गये थे) तब गोखले घबडाये। और एन्ड्र्यूज तथा पियर्सन को उन्होंने भेजा।

दूसरे हैं रिच। उनके विषय में पहले लिख चुका हूं। वे भी युद्ध के पहले ही मेरे दफ्तर में आ गये थे। मेरे बाद मेरा काम संभालने के उद्देश से वे विलायत बैरिस्टर होने के लिए गये थे। वहांपर कमिटी की तमाम जिम्मेदारी उन्हीं के सिर पर थी।

तीसरे मित्र पोलक हैं। वेस्ट की तरह इनके साथ भी मेरा परिचय भोजन-गृह में ही हुआ। वे ट्रान्सवाल के "क्रिटिक" के उपसंपादक की जगह छोड कर 'इंडियन ओपीनियन' में आये थे। यह तो सब कोई जानते हैं कि उन्होंने युद्ध के लिए सारे भारतवर्ष में भ्रमण किया था। रिच विलायत गये कि मैंने उन्हें फिनिक्स में अपने दफ्तर में बुला लिया। वहां आर्टिकल्स दिये और ये भी वकील बन गये। बाद उन्होंने शादी की। मिसेस पोलक को भी भारतवर्ष जानता है। इस महिला ने अपने पति को युद्ध के काम में बडी सहायता की थी। एक दिन भी उसमें विघ्न नहीं डाला। और यद्यपि आज वे दोनों असहयोग में हमारा साथ नहीं दे रहे हैं, तथापि वे यथाशक्ति भारत की सेवा अब भी किया ही करते हैं।

अब हर्मन कैलन बैक का परिचय सुनिए। इनसे भी मेरा परिचय युद्ध के पहले ही हुआ था। वे स्वयं जर्मन हैं। और यदि जर्मन-अंगरेजों का युद्ध न हुआ होता तो वे आज भारत में होते। उनका हृदय विशाल है। वे बेहद भोले हैं। उनकी भावनायें बडी तीव्र हैं वे शिल्प का धंधा करते हैं। ऐसा एक भी काम नहीं

कि जिसे करते हुए उन्होंने ना–हां की हो। जब मैंने जोहान्सबर्ग से अपना घरबार उठा लिया था तब हम दोनों एकसाथ ही रहते थे। मेरा खर्चा भी वे ही उठाते थे। घर तो खुद उन्हींका था। खाने वगैरा का खर्च देने की बात जब मैं निकालता तब वे बहुत चिढ कर कहते कि उन्हें फिजूलखर्ची से बचानेवाला तो मैं ही था और मुझे मना करते। उनके इस कथन में कुछ सार अवश्य था। पर गोरों के साथ मेरा जो व्यक्तिगत सम्बन्ध था उसका वर्णन यहां नहीं किया जा सकता। गोखले दक्षिण आफ्रिका आये तब जोहान्सबर्ग में कैलनबैक के बंगले में ही ठहराये गये थे। गोखले इस मकान से बडे प्रसन्न हुए। उनको पहुंचाने के लिए कैलनबैक झंझीबार तक मेरे साथ साथ आये थे। पोलक के साथ वे भी गिरफ्तार हो गये थे और जेल की सैर कर आये थे। आखिर जब दक्षिण आफ्रिका छोड कर गोखले को विलायत में मिल कर मैं भारत लौट रहा था तब कैलनबैक भी साथ में थे। पर लडाई के कारण उन्हें भारत आने की इजाजत नहीं मिली। अन्य जर्मनों के साथ इन्हें भी नजरकैद रक्खा था। महायुद्ध के समाप्त होते ही वे फिर जोहान्सबर्ग चले गये हैं और उन्होंने अपना धंधा शुरू कर दिया है। जोहान्सबर्ग में सत्याग्रही कैदियों के कुटुम्बों को एक साथ रखने का जब विचार हुआ, तब मि. कैलनबैक ने अपना ११०० बिघे का खेत कौम को यों ही बिना किराया लिये सौंप दिया। इसका विशेष वर्णन पाठक आगे चल कर पढेंगे।

अब एक पवित्र बाला का परिचय देता हूं। गोखले ने उसे जो प्रमाण–पत्र दिया उसको पाठकों के सामने रक्खे बिना मुझसे नहीं रहा जा सकेगा। इस बाला का नाम मिस श्लेझीन है। मनुष्यों को पहचानने की गोखलेजी की शक्ति अद्भुत थी। डेलागोआबे

से झंझीबार तक बातचीत करने के लिए हमें अच्छा शान्त समय मिल गया था। दक्षिण आफ्रिका के भारतीय तथा अंगरेज अगुओं से उनका ठीक परिचय हो गया था। इनमें के मुख्य पात्रों का आपने सूक्ष्म पृथक्करण कर बताया और मुझे बराबर याद है कि उन्होंने मिस श्लेझीन को भारतीय तथा गोरों में भी सबमें पहला स्थान दिया। "इसके जैसा निर्मल अंतःकरण, काम के वक्त एकाग्रता, दृढता, मैंने बहुत थोडे लोगों में देखी है। और बिना किसी आशा-प्रलोभन के इसे भारतीय आन्दोलन में इस तरह सर्वार्पण करते हुए देखकर तो मैं आश्चर्यचकित हो गया हूं। इन सभी गुणों के साथ साथ उसकी होशियारी और चपलता उसे इस युद्ध में एक अमूल्य सेविका बना रही है। मेरे कहने की आवश्यकता तो नहीं, पर फिर भी कहे देता हूं कि तुम इसे मत छोडना।" मेरे पास एक स्कॉच कुमारिका शार्टहेंड और टायपिस्ट का काम करती थी। उसकी भी प्रामाणिकता और नीतिशीलता बेहद थी। मुझे अपने जीवन में यों तो कई कटु अनुभव हुए हैं पर इतने सुंदर चारित्र्यवान् अंगरेज तथा भारतीयों से मेरा सम्बन्ध हुआ है कि मैं तो उसे सदा अपना अहोभाग्य ही मानता आया हूं। इस स्कॉच कुमारिका मिस डिक के बिवाह का अवसर आया कि उसका वियोग हुआ। मि. कैलनबैक मिस श्लेझीन को लाये और मुझे कहने लगे "इस बाला को इसकी मा ने मुझे सौंपा है। वह चतुर है, प्रामाणिक है पर इसमें मजाक की आदत और स्वाधीनता हद से ज्यादह है। शायद इसे उद्धत भी कह सकते हैं। आप संभाल सकें तो इसे आप अपने पास रक्खें। मैं इसे आपके पास तनख्वाह के लिए नहीं रखता।" मैं तो अच्छे शार्टहेंड टायपिस्ट को २० पौंड मासिक वेतन तक देने के लिए तैयार था। मिस श्लेझीन

की योग्यता और शक्ति का मुझे कुछ पता नहीं था। मि. कैलनबैक ने कहा "अभी तो इसे महीने के छः पौंड दीजिएगा।" मैंने फौरन मंजूर कर लिया। शीघ्र ही मुझे उनके मजाकिया स्वभाव का अनुभव हुआ। पर एक महीने के अन्दर तो मुझे उन्होंने अपने वश कर लिया। रात और दिन जिस समय चाहो काम देती। उनके लिए कोई बात असम्भव या मुश्किल तो थी ही नहीं। इस समय उनकी उम्र १६ वर्ष की थी। मवक्किल तथा सत्याग्रहियों को भी उसने अपनी निस्पृहता तथा सेवाभाव से वश कर लिया था। यह कुमारिका आफिस और युद्ध की एक चौकीदार बन गई। किसी भी कार्य की नीति के विषय में उसके हृदय में शंका उत्पन्न होते ही वह स्वतन्त्रतापूर्वक मुझसे वाद-विवाद करती। और जबतक मैं उसकी नीति के विषय में उसे कायल न कर देता तबतक उसे कभी सन्तोष नहीं होता था। जब हम सब लोग गिरफ्तार हो गये और अगुआओं में से लगभग अकेले काछलिया बाहर रह गये तब इस कुमारिका ने लाखों का हिसाब संभाला था। भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्यों से काम लिया था। काछलिया भी उसीका आश्रय लेते, उसीकी सलाह लेते थे। हम लोगों के जेल में चले जाने पर डोक ने 'इण्डियन ओपीनियन' की जिम्मेदारी अपने हाथों में ली। पर वह पके बालवाला बुजुर्ग 'इण्डियन ओपीनियन' के लिए लिखे हुए लेख मिस श्लेझीन से पहले पास करा लेता! और मुझे उन्होंने कहा "अगर मिस श्लेझीन नहीं होती तो मैं कह नहीं सकता कि अपने काम से मुझे खुद भी सन्तोष होता या नहीं। मैं उसकी सहायता और सूचनाओं की सच्ची कीमत नहीं बता सकता।" और कई बार उसकी सूचनायें योग्य ही होंगी यह समझ कर मैं उन्हें मंजूर भी

कर लिया करता। पठान, पटेल, गिरमिटिया, आदि सब जाति के और सभी उम्र के भारतीयों से वह सदा घिरी हुई रहती थीं। वे उसकी सलाह लेते और वह जैसा कहती वैसा ही करते। दक्षिण आफ्रिका में अक्सर गोरे लोग भारतीयों के साथ एक ही डबे में नहीं बैठते। ट्रान्सवाल में तो उनको एक जगह बैठने की मुमानियत भी करते हैं। वहां तो यह भी कानून था कि सत्याग्रही तीसरे ही दर्जे में सफर करें। इतना होते हुए भी मिस श्लेझीन जानबूझ कर भारतियों के डबे में ही बैठती। और गार्ड के साथ झगडा भी करती। मुझे भय था और श्लेझीन को भी इस बात की आकांक्षा थी कि वह कहीं गिरफ्तार न हो जाय। पर यद्यपि सरकार को उसकी शक्ति, उसका युद्ध विषयक ज्ञान, और सत्याग्रहियों के हृदय पर उसने जो अधिकार प्राप्त कर लिया था उसका ज्ञान था तथापि उसने मिस श्लेझीन को गिरफ्तार नहीं किया। और इसमें उसने सचमुच बुद्धि और विवेक से ही काम लिया। मिस श्लेझीन ने कभी अपने छः के सवा छः पौंड होने की न तो इच्छा ही की और न कुछ कहा ही। उनकी कितनी ही आवश्यकताओं का जब मुझे पता लगा तब मैंने उनके दस पौंड कर दिये। उन्होंने बडी हिचकिचाहट के साथ उसका स्वीकार किया पर उससे आगे बढाने का तो उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा "इससे अधिक की मुझे आवश्यकता ही नहीं और यदि इतने पर भी ले लूं तो जिस उद्देश से मैं आपके पास आई हूं वही व्यर्थ हो जाय।" इस उत्तर के आगे मैं चुप हो गया। पाठक शायद यह जानने के लिए उत्सुक हो रहे होंगे कि मिस श्लेझीन ने कहां तक शिक्षा पाई थी। वे केप यूनीवर्सिटी की इंटर मीजिएट परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकी थी। शार्टहेंड वगैरा में

पहले दर्जे के प्रमाणपत्र प्राप्त किये थे। युद्ध से मुक्त होने पर वे उसी यूनीवर्सिटी की ग्रेज्युएट हुई और इससमय ट्रान्सवाल की किसी कन्या पाठशाला में प्रधानाध्यापिका हैं।

हर्बर्ट किचन एक शुद्ध हृदय के अंगरेज थे। वे बिजली का काम काज करते थे। बोअर युद्ध में उन्होंने हमारे साथ काम किया। कुछ समय तक वे 'इण्डियन ओपीनियन' के संपादक भी रहे थे। उन्होंने मृत्यु तक ब्रह्मचर्य का पालन किया था।

ऊपर जिनका परिचय दे चुका वे तो मेरे खास परिचय में आये हुए हैं। उन्हें ट्रन्सवाल के आग्रगण्य गोरों में नहीं गिन सकते। तथापि यह कहा जा सकता है कि उन्होंने बडी सहायता की।

प्रतिष्ठा की दृष्टि से हास्किन को अग्रस्थान देना चाहिए। उनका परिचय पहले ही देचुका हूं। उनकी अध्यक्षता म सत्याग्रह युद्ध को सहायता करनेवाले गोरों का स्थायी मंडल खडा किया गया था। इस मंडल ने अपनी शक्तिभर सहायता की थी। युद्ध का रंग जमने पर स्थानीय सरकार के साथ प्रत्यक्ष सलाह मशवरा तो कैसे किया जा सकता है। इसका मूलभूत हेतु असहयोग नहीं था। पर सरकार ही अपने कानूनों का भंग करनेवाले मनुष्यों के साथ सलाह वगैरा करना पसंद नहीं करती थी। इसलिए इस समय यह गोरों का मंडल सरकार और सत्याग्रहियों के बीच एक अनुसंधान रूप थी।

आलवर्ट कार्टराइट का परिचय भी मैं पहले ही दे चुका हूं। डोक के ही जैसा संबंध रखनेवाले, और बहुत भारी सहायता करने वाले एक और पादरी सज्जन थे। उनका नाम था रेवरंड चार्ल्स फिलिप्स। बहुत वर्ष पहले वे ट्रान्सवाल में कांग्रीगेशनल मिनिस्टर थे। उनकी

सुशीला स्त्री भी उनकी बडी सहायता करती। एक तीसरे ख्यातनामा पादरी भी थे। उन्होंने पादरीपन छोडकर पत्र का सम्पादकत्व ग्रहण किया था। आप ब्लुम फोंटीन् में प्रकाशित होनेवाले 'फ्रैण्ड' नामक दैनिक के सम्पादक रेवेरंड डुडनी डु हैं। उन्होंने गोरों की तरफ से किया गया अपमान सहन कर के भी अपने पत्र में भारतीयों का पक्ष किया था। दक्षिण आफ्रिका के प्रसिद्ध वक्ताओं में उनकी गणना होती थी। इसी प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक सहायता करनेवाले 'प्रिटोरिया न्यूज' के सम्पादक वेरस्टेन्ट थे। एक बार प्रिटोरिया के टाउनहाल में वहांके मेयर के अधिपतित्व में गोरों की एक विराट सभा हुई थी। उसका हेतु था एशियानिवासियों की बुराई और खूनी कानून की हिमायत करना। अकेले वेरस्टेन्ट ने इसका विरोध किया। अध्यक्ष ने उन्हें बैठ जाने की आज्ञा दी पर उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। गोरों ने उनके बदन पर हाथ डालने की धमकी दी तथापि वे नरसिंह की तरह टाउनहाल में उसी प्रकार गरज रहे। आखिर सभा को अपना प्रस्ताव बिना ही पास किये बिखरना पडा। और भी कई ऐसे गोरों का नाम मैं गिना सकता हूं जो किसी संस्था में शामिल तो न थे पर सहायता करने का एक भी अवसर खाली नहीं जाने देते थे। पर अब इस अध्याय को मैं अधिक बढाना ठीक नहीं समझता। केवल तीन स्त्रियों का परिचय दे कर अब मैं इस प्रकरण को पूरा कर देता हूं।

पहली महिला हैं मिस हाब हाऊस। लार्ड हाब हाऊस की वे पुत्री होती हैं। बोअर युद्ध शुरू हुआ तब यह महिला लार्ड मिल्नर के सामने से होकर ट्रान्सवाल पहुचीं थी। जब लार्ड किचनर ने अपनी संसारप्रसिद्ध और जगतनिंदित कांन्सेन्ट्रेशन कैंप, ट्रान्सवाल

और फ्रीस्टेट में एकत्र की उस समय यह महिला अकेले बोअर औरतों में घुमती और उन्हें दृढ रहने–धीरज रखने के लिए उपदेश करती और शौर्य बढाती। वह स्वयं मानती थी कि इस युद्ध में अंगरेजों की ओर न्याय नहीं है इसलिए स्वर्गीय स्टेड की तरह परमात्मा से प्रार्थना करती कि इस युद्ध में अंगरेज पराजित हो जायं। इस प्रकार बोअरों की सेवा करने पर जब उसने देखा कि जिस अन्याय के खिलाफ बोअर लोग लडे थे वैसा ही अन्याय अज्ञान के कारण वे ही अब भारतीयों के प्रति कर रहे हैं तब उससे नहीं रहा गया। बोअर जनता उसका बडा सन्मान करती थी और उसपर बहुत प्रेम रखती थी। जनरल बोथा के साथ उसका बहुत निकट संबंध था। उनके यहां वह ठहरती थी। खूनी कानून रद करवाने के लिए उससे जैसा भी बन पडा उसने बोअर मंडलों में कोशिश की।

दूसरी महिला हैं ओलिव श्रायनर। इस विषय में मैं पांचवें प्रकरण में लिख गया हूं। दक्षिण आफ्रिका के विख्यात श्रायनर कुटुम्ब में उनका जन्म हुआ था। वे बडी विदुषी थी। श्रायनर नाम इतना विख्यात है कि जब उनकी शादी हुई तब उनके पति को श्रायनर नाम ग्रहण करना पडा, जिससे ओलिव का श्रायनर कुटुम्ब के साथ का संबंध दक्षिण अफ्रिका के गोरों से लुप्त न हो जाय। यह कोई उनका वृथाभिमान नहीं था। मेरा विश्वास है कि उन महिला के साथ मेरा अच्छा परिचय था। उनकी सादगी और नम्रता उनकी विद्वत्ता के जितने ही उनके आभूषण थे। उनके दिमाग में कभी एक दिन भी यह ख्याल नहीं आया कि अपने हबसी नौकर और स्वयं अपने बीच कोई अन्तर है। जहां जहां अंगरेजी भाषा बोली जाती है तहां तहां उनकी 'ड्रीम्स' नामक

पुस्तक आदर के साथ पढी जाती है । वह गद्य है पर काव्य की पंक्ति में रखने योग्य है । और भी उसमें बहुत कुछ लिखा है । इतनी विद्वान, इतनी बडी लेखिका होने पर भी अपने घर में रसोई करना, घर साफ सुथरा रखना तथा बर्तन आदि साफ करना आदि कामों से वह न तो कभी शरमाती और न कभी परहेज करतीं थीं। उनका यह ख्याल था कि वह उपयोगी मिहनत उनकी लेखन शक्ति को मंद करने के बदले उत्तेजित करती थी । और उनके प्रभाव से भाषा में एक प्रकार की मर्यादा और व्यवस्थितता आ जाती थीं । इस महिला ने भी दक्षिण आफ्रिका के गोरों में उनका जो कुछ भी वजन था उसका उपयोग भारतीयों के पक्ष में किया था ।

तीसरी महिला मिस माल्टीनो थीं । वे दक्षिण आफ्रिका के पुराने माल्टीनो कुटम्ब की वुजुर्ग महिला थीं । उन्होंने भी अपनी शक्तिभर सहायता की थी ।

यदि पाठक पूछें कि इन तमाम गोरों की सहायता का क्या फल हुआ, मैं उत्तर दूंगा कि फलनिर्देश के लिए मैंन यह अध्याय नहीं लिखा है । कितनों का काम ही, जिसका वर्णन पहले ही दिया जा चुका है, फलस्वरूप है । पर यह सवाल जरूर खडा हो सकता है कि इतने हितैषी गोरों की संपूर्ण प्रवृत्ति का परिणाम क्या हुआ ? पर यह युद्ध ही ऐसा था कि उसका परिणाम स्वयं युद्ध में ही समाविष्ट था। यह युद्ध स्वयं काम करने की शक्ति, कष्ट सहन, त्याग और ईश्वर पर श्रद्धा इन तीन बातों की परीक्षा ही था। गोरे सहायकों के नाम लिखने का यह भी हेतु है कि यदि दक्षिण आफ्रिका के इतिहास में उनकी की हुई सहायता का उल्लेख न किया जाय तो वह इतिहास का एक दोष समझा जायगा । मैंने सभी गोरे सहायकों के नाम तो

लिखे ही नहीं। जितने दिये हैं उतने पर से सहायक मात्र के प्रति धन्यवाद प्रकट हो जाता है। इसके अतिरिक्त और भी एक कारण है। मैंने यह एक सिद्धान्त कायम कर रक्खा है कि हरएक हलचल के तमाम परिणामों को हम नहीं देख सकते। तथापि शुभ कार्य का फल शुभ ही होगा—फिर वह दृश्य हो या अदृश्य। एक सत्याग्रही की हैसियत से इस सिद्धान्त के प्रति मुझे अपनी श्रद्धा भी प्रकट करना था। तीसरे मुझे यह दिखाना था कि सत्य पर आधार रखनेवाली हलचलें इसी प्रकार अनेक शुद्ध और निःस्वार्थ सहायताओं को आकर्षित कर लेती हैं। अबतक इस अध्याय में यह बात स्पष्ट न हुई हो तो मैं और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि, सत्याग्रह के युद्ध में सत्य की ही सर्वोपरि रक्षा करनी चाहिए। यह यदि प्रयत्न समझा जाय तो इसे छोड़कर कोई भी प्रयत्न गोरों की सहायता प्राप्त करने के लिए नहीं किया गया था। युद्ध के आंतरिक बल से ही वे आकर्षित हुए थे।

अध्याय २४

और भी कई भीतरी कठिनाइयां

इक्कीसवें अध्याय पर से पाठकों को कुछ भीतरी कठिनाइयों का ख्याल हुआ होगा। मुझपर हमला हुआ उस समय मेरे बालबच्चे तो फिनिक्स में रहते थे, अतः हमले का हाल सुनकर उन्हें चिन्ता होना एक स्वाभाविक बात है। यह तो हो ही नहीं सकता था कि मुझे देखने के लिए फिनिक्स से पैसे खर्च कर वे जोहान्सबर्ग दौड आवें। इसलिए अच्छा होने पर मुझे ही वहां जाना चाहिए था। नेटाल और ट्रान्सवाल के बीच हर किसी कामकाज से मेरा जाना आना हुआ ही करता था। समझौते के विषय में नेटाल में भी बहुत गलतफहमियां फैली हुई थी। मेरे पास तथा अन्य मित्रों के पास उधर से पत्र आते थे उसपर से इस बात को मैं जानता था। 'इंडियन ओपीयन' के पते पर तो कई कटाक्ष–आक्षेप भरे पत्र आते। उनका भी पुट्टल मेरे पास था। यद्यपि सत्याग्रह तो ट्रान्सवाल के भारतीयों को ही करना था तथापि इस विषय में नेटाल के भारतियों की सम्मति लेना भी अभी बाकी था। ट्रान्सवाल के भारतीय ट्रान्सवाल के निमित्त से सारे दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के लिए झगड रहे थे। इस नेटाल की

गलतफहमी को दूर करने के लिए भी मुझे डर्बन जाना जरूरी था। इसलिए पहला मौका मिलते ही मैं वहां गया ।

डर्बन में भारतियों की एक विराट-सभा भरी गई । कितने ही मित्रों ने मुझे पहिले ही से चेता रक्खा था कि " इस सभा में आपपर हमला होगा । इसलिए या तो आपको सभा में जाना ही नहीं चाहिए या आत्मरक्षा का कुछ उपाय सोचकर जाना चाहिए ।" दो में से एक भी बात को मैं कर नहीं सकता था । नौकर को मालिक बुलावे और यदि वह डर करके न जाय तो उसका सेवाधर्म कहां और यदि वह मालिक की दी हुई सजा से डर गया तो नौकर कैसा ? केवल सेवाभाव से सार्वजनिक सेवा करना तलवार की धार पर चढने के समान है । लोकसेवक स्तुति लेने के लिए तो तैयार हो जाता है फिर उसे निन्दा के समय क्यों कर अपना मुंह छिपाना चाहिए ? इसलिए मैं तो बराबर नियत समय पर पहुंच गया । समझौता किस प्रकार हुआ आदि समझाया । कुछ सवालों के उत्तर भी दिये । यह सभा रात के करीब आठ बजे शुरू हुई होगी । काम लगभग समाप्त हुआ ही था कि इतने में एक पठान अपनी लाठी लेकर मंच पर चढा । बस उसी समय बत्तियां भी गुल हो गई । मैं समझ गया । अध्यक्ष सेठ दाऊद मुहमद मेज पर चढकर समझाने लगे । मेरा बचाव करनेवालों ने मुझे घेर लिया । मैंने आत्मरक्षा का कोई उपाय नहीं किया था । पर मैंने देखा कि हलचल करनेवाले तो सब तरह से तैयार हो कर आये थे । उनमें से एक तो अपने खीसे में रिवोल्वर भी डाल लाया था । उसने उसका एक खाली बार भी किया । तबतक पारसी रुस्तमजी, जिन्होंने हमले की तैयारियां देख ली थीं वे पुलिस सुपरिन्टेन्ट अलेक्झांडर की ओर दौड पडे थे और उन्हें खबर कर दी

थी । उन्होंने पुलिस का एक दल भेज दिया था । पुलिस आई और मुझे अपने बीच में लेकर पारसी रुस्तमजी के मकान पर ले गई ।

दूसरे दिन पारसी रुस्तमजी ने डर्बन के पठानों को इकट्ठा किया और उन्हें कहा कि आपको गांधी के बारे में जो कुछ शिकायत हो वह आप प्रत्यक्ष उन्हें यहांपर कह दीजिए । मैं उन्हें मिला । शांत करने की कोशिश भी कि पर मुझे अब भी यकीन नहीं होता कि मैं उन्हें शान्त कर सका हूंगा । शक की दवा लुकमान हकीम के पास भी नहीं थी । मैं दलील उदाहरणों से उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सका । उनके दिल में तो यह गांठ पड गई थी कि मैंने कौम को धोखा दिया है । और मेरा समझाना तबतक व्यर्थ था जबतक यह उनके दिल से दूर नहीं हो जाता ।

उसीदिन मैं फिनिक्स पहुंचा । जो मित्र पिछली रात को मेरा रक्षण करने के लिए इकट्ठे हो गये थे उन्होंने मुझे अकेला नहीं जाने दिया । और कहा कि हम भी फिनिक्स चलेंगे । मैंने कहा आप मेरे मना करने पर भी आना चाहेंगे तो मैं आपको रोक नहीं सकता । पर वहां तो जंगल है । वहांके निवासी हमें और आपको खाने ही को न दें तो आप क्या करेंगे ? उनमें से एकने कहा हमें ऐसा डर न दिखाइए । हम अपनी व्यवस्था खुद कर लेंगे । और जबतक हम सिपाही का काम करेंगे तबतक यदि हम आपके भंडार को लूट भी लें तो हमें कौन रोक सकता है ।

इस प्रकार हम विनोद करते हुए फिनिक्स पहुंचे । इस दल का मुखिया जैक मुडली था । भारतीयों में उसका नाम खूब प्रख्यात हुआ था । नेटाल में तामिल माता पिता से उसका जन्म हुआ था । वह घूंसाबाजी (बाक्सींग) में खासा प्रवीण

था और उसका तथा उसके साथियों का भी यह ख्याल था कि उस कला में मुडली के सामने क्या काला और क्या गोरा कोई नहीं टिक सकता था। जबतक मैं दक्षिण आफ्रिका में था तब तक मेरी यह आदत थी कि बारिश के दिनों को छोडकर हमेशा मैदान में ही सोता था। उसमें इस समय परिवर्तन करने के लिए मैं तैयार नहीं था। इसलिए इस स्वनिर्मितदल ने मेरे बिस्तर के आस पास पहरा देना शुरू किया। यद्यपि इस दल के साथ डर्बन में मैंने मजाक किया था तथापि मुझे अपनी इतनी दुर्बलता को जुरूर कुबूल करना चाहिए कि जब उस दल ने अपना पहरा शुरू किया तब मुझे कुछ अधिक निर्भयता मालूम हुई। और अपने दिल में यह भी सवाल पैदा हुआ कि यदि वे लोग न आते तो क्या मैं इसी प्रकार निर्भय चित्त से यहां सो रहा होता? मुझे यह भी आभास होता है कि कहीं भी जरा आवाज होते ही मैं अवश्य चौंक पडता था। मेरा विश्वास है कि ईश्वर में मेरी अविचल श्रद्धा है। मेरी बुद्धि इस बात को भी बरसों से कुबूल करती आई है कि मनुष्य जीवन में मौत एक बडा भारी परिवर्तन है। और वह जब कभी आवे तब स्वागत करने योग्य वस्तु ही है। हृदय से मौत तथा अन्य भयों को दूर करने के लिए मैंने महा प्रयत्न भी किये हैं तथापि अपने जीवन में ऐसे कई प्रसंग याद आते हैं कि जब मौत की भेट करने के विचार मात्र से, एक चिर वियोगी मित्र की भेट के विचार मात्र से जैसा हृदय उछला पडता है उस प्रकार न उछल सका। इस प्रकार बलवान् बनने के लिए महा प्रयत्न करने पर भी मनुष्य कई बार दुर्बल ही बना रहता है। और बुद्धि से प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के समय उसके लिए बहुत उपयोगी नहीं साबित होता। उसमें

भी जब उसे बाहरी आश्रय मिल जाता है और जब वह उसका स्वीकार कर लेता है तब तो वह अपना आंतरिक बल अधिकांश में खो बैठता है। सत्याग्रही को इस प्रकार के भय से हमेशा बचते रहना चाहिए।

फिनिक्स में मैंने एक ही उद्योग किया। गलतफहमी दूर करने के लिए खूब लिखना शुरू कर दिया। संपादक और शंकाशील पाठक के बीच एक कल्पित संवाद लिख डाला। उसमें जितनी भर शंकायें और आक्षेप मैंने सुने थे उन सबका उत्तर मुझसे जितना विस्तारपूर्वक हो सका दिया। मेरा ख्याल है कि इसका असर भी अच्छा हुआ। यह तो खुल्लमखुल्ला सिद्ध हो गया कि उन लोगों में गलतफहमी नहीं फैलने पाई जिनमें अगर वह फैल जाती तो उसका परिणाम बहुत कडुआ होता। समझौते को मानना न मानना तो केवल ट्रान्सवाल के भारतीयों का काम था। इसलिए उनके कार्यों पर से उनकी और उनके नेता और सेवक की हैसियत से मेरी भी सच्ची परीक्षा होने को थी। ऐसे बहुत थोडे भारतीय होंगे कि जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक परवाने न लिए हों। एशियाटिक आफिस में परवाना लेने के लिए इतने आदमी जाते कि परवाना देनेवालों को दम मारने तक का तो समय नहीं मिलता था। कौम ने बडी ही शीघ्रता से उन शर्तों का पालन करके दिखा दिया जो समझौते में व्यक्तियों से सम्बन्ध रखती थीं। सरकार को भी यह बात कुबूल करना पडी थी। मैंने यह भी देखा कि यद्यपि गलतफहमी ने उग्ररूप धारण किया था फिरभी उसका क्षेत्र बहुत ही मर्यादित था। जब कितने ही पठानों ने अपने ही हाथों में कानून को ले लिया और उधम मचाना शुरू किया तब तो बडी ही खडबडाहट मच गई। पर

इस खडबडाहट का भी जब पृथक्करण करने बैठते हैं तब यही मालूम होता है कि उसका न सिर होता है न पैर। कई बार वह केवल क्षणिक ही होती है। इतने पर भी उसकी शक्ति आज भी संसार में कायम है। क्योंकि खून खराबी से हम अभीतक कांप उठते हैं। पर यदि शांति के साथ विचार किया जाय तो मालूम होगा कि कांपने का कोई कारण ही नहीं है। फर्ज कीजिए कि मीर आलम और उसके साथियों की मार से मेरा शरीर केवल घायल होने के बदले वह नष्ट ही होजाता, यह भी मान लीजिए कि कौम भी बुद्धिपूर्वक शांत और निश्चिन्त रही होती, मीर आलम अपनी बुद्धि के अनुसार और कुछ नहीं कर सकता था यह सोच कर उसके प्रति क्षमाभाव और मित्रभाव भी रक्खा होता तो इससे कौम को कोई हानि नहीं उठानी पडती बल्कि अत्यंत लाभ ही होता। क्योंकि कौम में तो गलतफहमी थी ही नहीं। इसलिए वह तो दूने उत्साह से अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहती और अपने कर्तव्य का पालन करती रहती। मुझे तो केवल लाभ ही होता। क्योंकि सत्याग्रही के लिए अपने सत्य का आग्रह करते हुए अनायास मौत से भेट हो जाने से बढकर दूसरा मंगल प्रसंग संसार में कौन हो सकता है? उपर्युक्त दलीलें सत्याग्रह जैसे युद्ध ही के विषय में सत्य हैं। क्योंकि उसमें वैर भाव को स्थान ही नहीं है। आत्मशक्ति या स्वावलंबन ही उसका एक मात्र साधन है। उसमें किसीको भी दूसरे का मुंह ताकते हुए बैठे नहीं रहना पडता। वहां न कोई नेता है और न कोई सेवक। सभी सेवक और सभी नेता हैं। इसलिए कितने ही बडे मनुष्य की मृत्यु क्यों न हो वह उस युद्ध को हानि नहीं पहुंचा सकता। इतना ही नहीं बल्कि वह तो युद्ध के वेग को बढा देता है।

यही सत्याग्रह का एक मूल और शुद्ध स्वरूप है। अनुभव में हमें यह देखने को नहीं मिलता क्योंकि सभीने बैर का त्याग नहीं किया होता है। कितने ही लोग सत्याग्रह का रहस्य भी नहीं जानते। अधिकांश लोग तो कुछ लोगों को देख देख कर उसका अंधानुकरण मात्र करते हैं। फिर जैसा कि टाल्स्टाय ने कहा था सामुदायिक और सामाजिक सत्याग्रह का तो ट्रान्सवाल का सत्याग्रह पहला ही उदाहरण है। स्वयं मैं शुद्ध सत्याग्रह के ऐतिहासिक उदाहरणों को नहीं जानता। मेरा इतिहास विषयक ज्ञान बहुत कम है। इसलिए मैं इस विषय में कोई निश्चित अभिप्राय नहीं दे सकता। पर सच पूछा जाय तो हमें ऐसे उदाहरणों से भी गरज नहीं। सत्याग्रह के मूल तत्त्वों को ग्रहण कर लीजिए कि आप देखेंगे कि उसका फल वही होगा जो मैंने ऊपर बता दिया है। यह दलील पेश कर के इस अमूल्य शस्त्र को अलग नहीं हटाया जा सकता कि इसका व्यवहार नितान्त कठिन है। जमाने से, हजारों वरसों से शस्त्रबल के कितने ही प्रयोग होते चले आये हैं। उनके खराब परिणामों को हम स्वयं देख ही रहे हैं। यह भी आशा नहीं की जा सकती कि भविष्य में वह अच्छे फल को देगा। अंधकार में से यदि प्रकाश उत्पन्न किया जा सकता हो तो अवश्य ही वैर से प्रेम-भाव उत्पन्न होने की आशा हम कर सकते हैं।